5-1

ॐ

श्रीमत्सदानन्दयोगीन्द्रविरचितः

वेदान्तसारः

कौमुदीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी

व्याकरणाचार्यः, एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशकः

बालकृष्ण त्रिपाठी

बी० १/१२२-३१ ए. अस्सी, वाराणसी।

श्रीमत्सदानन्दयोगीन्द्रविरचितः

वेदान्तसारः

कौमुदीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः

डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी

व्याकरणाचार्यः, एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशकः

बालकृष्ण त्रिपाठी

बी० १/१२२-३१ ए० अस्सी, वाराणसी।

प्रकाशक।
बालकृष्ण त्रिपाठी
बी० १/१२२, ३१ ए० अस्सी, वाराणसी।

तृतीय संस्करण
अगस्त १९७५
मूल्य : ३.५०

मुद्रक :—
मोहन लाल
केशव मुद्रणालय, खजुरी वाराणसी-२

श्री मुकुन्दपाद चैतन्य -
शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेश
मुनी कीरिती -

प्राक्कथन

अभी पी-एच० डी० की उपाधि लेकर निकला ही था कि स्नातकोत्तर महाविद्यालय (Post graduate College) वृन्दावन में संस्कृत के अध्यापन का सुयोग मिला। वहाँ अपेक्षाकृत अन्य कठिन विषयों के साथ ही दर्शन पढ़ाने का भार मेरे कन्धों पर डाला गया। अध्ययन-अध्यापन का क्रम चलता रहा। कक्षा के विद्यार्थियों की कल्याण-कामना से निर्धारित ग्रन्थों के उत्तम संस्करण संकलित किये जाने लगे। किन्तु 'वेदान्तसार' का ऐसा कोई संस्करण न मिला जो विद्वानों के साथ ही विद्यार्थियों का भी मनस्तोष कर सके। इस कमी की पूर्ति का संकल्प उसी समय मन में ले लिया गया। संयोग, सौभाग्य या दुर्भाग्य-वश उसी वर्ष सत्रावसान होते-होते विहारी जी की पुरी वृन्दावन को छोड़कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में चला आना पड़ा। यहाँ कार्यों की अधिकता ने उक्त पावन संकल्प को वर्षों तक पूरा न होने दिया। कार्य पर कार्य आते गये। मन अधीर था अपनी चिर चिन्तित प्रतिज्ञा पूरी न होने के कारण। किन्तु विश्वनाथ जी की कृपा से आज वह संकल्प साकार होने जा रहा है। अतः अन्तःकरण आनन्द से उद्वेलित है। आशा है, वेदान्तसार का यह सर्वथा नवीन संस्करण अपनी 'कौमुदी' के साथ विद्वानों, विद्यार्थियों तथा सुधी-जनों को समान सन्तोष प्रदान कर उनका आशीष प्राप्त करने में शत-प्रतिशत सफल होगा।

वेदान्तसार के इस संस्करण को 'कौमुदी' नामक संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या से अलङ्कृत करके इसके सौभाग्य को द्विगुणित करने का प्रयास किया गया है। मेरे अन्तःकरण की चिरसंगिनी यह 'कौमुदी' आशा ही नहीं, अपितु दृढ़ विश्वास है कि मनीषियों एवं साधु-जनों के शुभाशंसा का भाजन बनेगी।

इस संस्करण को सजाने-सवाँरने में वेदान्तसार के मेरठ, प्रयाग तथा वाराणसी से प्रकाशित आधुनिक संस्करण तथा नृसिंह सरस्वती की सुबोधिनी

और रामतीर्थ की विद्वन्मनोरञ्जिनी अधिक सहायक रही हैं। इनमें भी प्रया का संस्करण तथा विद्वन्मनोरञ्जिनी मेरे लिए अधिक उपयोगी रहे। मैं इ सबका हृदय से आभार मानता हूँ।

नागपञ्चमी
विक्रम सं० २०२६

रमाशङ्कर त्रिपाठी
१४-८-१९७२

भूमिका

संसार दुःख का आकर है। प्राणियों का ऐसा कोई भी वर्ग नहीं है, जो इस जगत् में पूर्णरूप से सर्वदा सुखी एवं सन्तुष्ट रह सके। किसी को सामाजिक दुःख है, तो किसी को मानसिक एवं शारीरिक। कोई भूख की ज्वाला से दग्ध हो रहा है, तो कोई अपने बोरे के समान विशाल एवं मोटे पेट के अन्दर पड़े लड्डुओं तथा मालपुओं को कवणभास्कर की सहायता से पचाने का जीतोड़ प्रयास करता हुआ मखमली गद्दे पर करवटें बदलता हुआ निष्फल 'निद्रा-स्तोत्र' का पाठ करता हुआ समूची निशा समाप्त कर देता है। कोई अपनी शारदी कौमुदी की तरह प्रेयसी को दिन रात बाहों में भर लेने का अनवरत स्वप्न देखता रहता है, तो कोई गृहलक्ष्मी बनकर घर में विराजमान प्रेयसी की छाया को भी कण्टक से कम करामाती नहीं समझता है। इस तरह के अगणित द्वन्द्वों से भरपूर इस जगत् में व्यक्ति किसी न किसी दुःख से पीडित होकर उससे छूटने का प्रयास करता है। उसका हृदय एवं मस्तिष्क बरबस उस उपाय को ढूँढ निकालने का प्रयास करता है, जिससे उसके तथा उसके साथियों का दुःख सर्वदा के लिए उपशमित हो जाय।

बालक अपने अनन्तर जन्म लेने वाले शिशु को देख कर बड़ी ही प्रबल जिज्ञासा के साथ अपनी ममतामयी माँ से प्रश्न करता है—"यह बच्चा कहाँ से आया है, क्यों आया है, तुमने अपने पास इसे क्यों सुलाया है?" आदि-आदि। इस तरह की जिज्ञासा का उदय दो अवस्थाओं में होता है-(१) जबकि मानव-मन जागतिक जञ्जाल से कुछ असंपृक्त होने के कारण शान्त एवं निश्चल रहता है और (२) जबकि व्यक्ति का हृदय दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों के थपेड़ों से मर्माहत हो तिलमिला उठता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में मानव की जिज्ञासा जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब वह संस्कार-संपन्न मेधावी व्यक्ति जो कुछ लिखता है, बोलता है तथा समझता है—वह सब दर्शन की परिधि में आता है।

विश्व के प्राचीनतम वाङ्मय ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के आविर्भाव के काल से ही मानव की इस तरह की जिज्ञासा का साक्षात् दर्शन होता है। नासदीय सूक्त का द्रष्टा ऋषि कहता है—"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत कुत आ याता कुत इयं विसृष्टिः।"

बस, इसी तरह की जिज्ञासाओं से, चाहे वे दुःखों के अभिघात से हुई हों और चाहे शान्त एवं निर्मल हृदय की प्रवृत्तियों से, दर्शन शास्त्र की आधार शिला पड़ी।

भारत अतीत के सुदूर काल से ही मौलिक विचारों एवं चिन्तनों का उर्वर भूमि-भाग रहा है। अतीत या समकाल के तर्कों एवं युक्तियों को काटकर सर्वथा नूतन तथ्य की स्थापना यहाँ की मनीषा का निकष था। अतः सर्वथा विभिन्न दृष्टियों और बौद्धिक आयामों से विचार करने के कारण यहाँ विविध दर्शन-सरणियों ने जन्म लिया, जिनमें सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त आदि आस्तिक दर्शन तथा लोकायत (चार्वाक), आर्हत (जैन) और सौगत (बौद्ध) आदि नास्तिक दर्शन प्रधान हैं।

वेदान्त को उत्तरमीमांसा भी कहते हैं। इसमें वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय जीव और ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन किया गया है। वेदान्तों (उपनिषदों) के विषय का विवेचन होने के कारण उत्तरमीमांसा को भी वेदान्त कहते हैं, और आजकल उत्तरमीमांसा को इसी नाम से मुख्यतया जाना जाता है। वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या कई आचार्यों ने विभिन्न दृष्टियों से की है। इनमें शङ्कराचार्य के द्वारा अद्वैत, रामानुजाचार्य के द्वारा विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य के द्वारा द्वैत, निम्बार्काचार्य के द्वारा द्वैताद्वैत, वल्लभाचार्य के द्वारा शुद्धाद्वैत तथा चैतन्यमहाप्रभु के द्वारा अचिन्त्यभेदाभेदवाद का प्रवर्तन किया गया है। अद्वैत वेदान्त शाङ्कर वेदान्त के नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि इसकी आचार्य-परम्परा में आचार्य शङ्कर का स्थान सर्वाधिक महत्त्वशाली है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त को जनमानस में प्रतिष्ठित करने का तथा उसे अधिक तर्कसंगत बनाने का कार्य आचार्य शंकर ने ही किया है।

आचार्य शंकर ने महर्षि बादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' भगवद्गीता तथा उपनिषदों पर सुधीजन-मन को आन्दोलित कर देने वाले अद्वैतपरक भाष्य की रचना कर

अपने अपराजेय व्यक्तित्व तथा अद्वैत वेदान्त को युग-युग तक म्लान न होनेवाली प्रभुता का निर्विवाद आरोपण कर वस्तुतः अद्वैत वेदान्त को दर्शनों के क्षेत्र में मूर्धाभिषिक्त कर दिया है। प्रसिद्ध इतिहासकारों के अनुसार आचार्य शंकर का आविर्भाव ७८८ ई० में और तिरोभाव ८२० ई० में हुआ था। आचार्य शंकर ने जिस कार्य को किया है, वस्तुतः उसका प्रबल सूत्रपात उपनिषद् युग में ही हो चुका था। आचार्य शंकर के परमगुरु आचार्य गौडपाद ने अपनी कारिकाओं में अद्वैत सिद्धान्त का पल्लवन भली भाँति किया है। किन्तु यहाँ सब कुछ होते हुये भी अद्वैतवेदान्तकेशरी आचार्य शंकर के व्यक्तित्व का यश किञ्चित् भी मलिन नहीं किया जा सकता है। इसमें किसी को आपत्ति नहीं है कि यदि शंकर का सहयोग न मिला होता तो अद्वैत वेदान्त की जो स्थिति आज है, वह निश्चित ही न रही होती।

आचार्य शङ्कर के कार्य एवं रचनायें

आचार्य शंकर का जन्म सुदूर दक्षिण के द्रविण ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनकी मेधा इतनी तीव्र थी कि इनका कोई भी समकालीन आचार्य इनके सम्मुख विचार-सरणि में स्थिर न हो पाता था। इस आचार्य ने वैदिक वर्णाश्रम-धर्म और अद्वैत वेदान्त के प्रचार एवं प्रसार के लिए भारतवर्ष के चार कोनों में चार पीठों की स्थापना की। उत्तर में हिम-शृङ्खलाओं के मध्य बदरिकाश्रम के निकट ज्योतिष्पीठ, पूरब में पुरुषोत्तम क्षेत्र (पुरी) में गोवर्धनपीठ, दक्षिण में रामेश्वर क्षेत्र में शृङ्गेरीपीठ, और पश्चिम में द्वारका धाम में शारदापीठ। इसके अतिरिक्त भी आचार्य ने अपने निवास के लिए काञ्ची में कामकोटिपीठ की स्थापना की थी। इन पीठों पर अभिषिक्त आचार्य भी शंकराचार्य कहे जाते हैं। ये अद्वैत वेदान्त के मर्मज्ञ एवं विद्वान् हुआ करते हैं। ये आचार्य भी समय-समय पर कुछ वेदान्त-ग्रन्थों की रचना शंकराचार्य के नाम से किया करते हैं। यही कारण है कि शंकराचार्य के नाम से प्राप्त होने वाले ग्रन्थों में कौन-कौन ग्रन्थ आदि शंकराचार्य द्वारा रचित है, इसका निर्णय करना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। फिर भी कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन्हें आदि शंकराचार्य की निर्विवाद कृति माना जाता है। ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता, ईश, कठ, प्रश्न, मुण्डक, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक पर लिखा गया भाष्य आदि शंकराचार्य की

ही रचना सर्वसम्मति से स्वीकार की जाती है। विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सु-जातीयभाष्य, गायत्रीभाष्य और मण्डलब्राह्मणोपनिषद् पर राजयोग भाष्य प्रौढ़ता तथा शैली के आधार पर आदि शंकर के ही माने जाते हैं। उपदेशसाहस्री, विवेकचूडामणि, आत्मबोध, अपरोक्षानुभूति, पञ्चीकरण, दक्षिणामूर्तिस्तोत्र और मोहमुद्गर भी आदि शंकराचार्य की ही रचनायें है—ऐसी विद्वानों की निर्विशंक धारणा है। कुछ विद्वान् प्रपञ्चसार तथा सौन्दर्यलहरी को आदि शंकराचार्य की कृति मानने में संदेह करते हैं।

आचार्य शंकर ने जिस अद्वैत-कल्पवृक्ष को सिञ्चित, पल्लवित तथा पुष्पित किया, उसे अधिक समृद्ध करने में आगे चल कर कतिपय आचार्यों ने अपना बहुमूल्य योगदान किया। इनमें बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक, पञ्चीकरणवार्तिक तथा नैष्कर्म्यसिद्धि के रचयिता सुरेश्वराचार्य, ब्रह्मसिद्धि के निर्माता मण्डनमिश्र, चतुःसूत्रीभाष्य पर पञ्चपादिका नामक व्याख्या के कर्ता पद्मपादाचार्य, विवरणप्रमेयसंग्रहकार माधवाचार्य, शारीरकभाष्य पर वेजोड़ रचना 'भामती' के रचयिता आचार्य वाचस्पति मिश्र, वेदान्तकौमुदीकार रामाद्वय तथा चित्सुखी के निर्माता चित्सुखाचार्य आदि स्वनामधन्य विद्वानों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आचार्यों की इसी महनीय परम्परा में आगे चलकर ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में परमहंस परिव्राजकाचार्य सदानन्द ने वेदान्तसार नामक अत्यन्त लोकप्रिय प्रकरण-ग्रन्थ की रचना की। अद्वैत वेदान्त के सुदृढ़ दुर्ग में प्रवेश पाने के लिए यह एक सरलतम प्रवेश द्वार है। वस्तुतः अद्वैत वेदान्त के समूचे क्षीर-सागर का सश्रम आलोडन करके उसके मधुर नवनीत को ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में सजा-सवाँर कर रक्खा है।

वेदान्तसार की शैली

वेदान्तसार की भाषा सरल, सुबोध एवं सुस्पष्ट है। इसकी शैली बोधगम्य एवं आडम्बर-विहीन है। स्वल्प तथा सुस्पष्ट शब्दों में अधिक और गम्भीर बातको व्यक्त करने की ग्रन्थकार की शैली मनोहारिणी तथा अद्भुत है। अन्य दार्शनिकों की तरह बात को घुमाफिरा कर किसी बात को दुरूह बनाने की इनकी प्रकृति नहीं है। टेढ़ी से टेढ़ी बात को भी सीधे-सादे ढंग से बतला कर पाठक को वेदान्त

की ग्रन्थियों को सुलझाने में प्रोत्साहन प्रदान करना इस ग्रन्थकार की अपनी विशेषता है। अन्य दर्शनकारों की तरह नव्य-न्याय की भाषा में, अपने ग्रन्थ की रचना कर सदानन्द ने अपनी बात को बखेड़ा बनाने से पूरी क्षमता के साथ बचा लिया है। वेदान्तसार की ये ही विशेषताएँ आज विद्वन्मण्डली में इसे गौरव प्रदान कर रही हैं। सम्प्रति अनेक यूरोपीय भाषाओं में इसका अनुवाद उपलब्ध है, जिससे इसकी लोकप्रियता एवं उपादेयता का स्पष्ट परिचय मिलता है।

वेदान्तसार की टीकाएँ

वेदान्तसार पर सम्प्रति तीन प्राचीन संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं। इनका विवरण निम्न-निर्दिष्ट है—

(१) सुबोधिनी या संबोधिनी—वेदान्तसार पर प्राप्त टीकाओं में यह सर्वाधिक प्राचीन है। इस टीका के कर्ता का नाम है 'नृसिंह सरस्वती"। इन्हें नरसिंह या नरहरि भी कहा जाता था। ये काशी में विश्वनाथमन्दिर के आसपास कहीं रहते थे। अपनी टीका की समाप्ति पर अपने तथा अपने निवास-स्थल के विषय में इन्होंने जो कुछ लिखा है, उससे इनकी काशीपुराधीश्वर विश्वनाथ में अटूट श्रद्धा प्रतीत होती हैं। इनकी टीका को देखने से यह भी पता चलता है कि वेदान्तसार के कर्ता सदानन्द इनके परमगुरु अर्थात् गुरु के गुरु थे। टीका की, पुष्पिका में इन्होंने अपने गुरु का नाम कृष्णानन्द बतलाया है। नृसिंह ने अपनी टीका की रचना शक संवत् १५१० अर्थात् ईस्वी सन् १५८८ में की थी। इनकी टीका के मनन से यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है कि ये वेदान्तविद्या के सुविज्ञ आचार्य तथा योग के अनुपम साधक विद्वान् संन्यासी थे।[1]

---

१. विमुक्तक्षेत्रे परमे हि क्षेत्रे सदा पवित्रे नरसिंहयोगी।
वेदान्तसारस्य चकार टीकां संबोधिनीं (सुबोधिनीं) विश्वपतेः पुरस्तत् ॥
जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः, ।
सञ्जाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासे नवम्यां तिथौ,
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिष्टीकां चकारोज्ज्वलाम् ॥
इति श्रीकृष्णानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीनरसिंह–
सरस्वतीकृता वेदान्तसारटीका समाप्ता। (काशी हि. वि. वि. के मैनुस्क्रिप्ट से उद्धृत) ॥

(२) विद्वन्मनोरञ्जिनी—इस टीका के निर्माता कृष्णतीर्थ के शिष्य प्रसिद्ध विद्वान् रामतीर्थ यति हैं। म० म० गोपीनाथ कविराज के अनुसार वे मधुसूदन सरस्वती के समकालीन थे। मधुसूदन सरस्वती अप्पय दीक्षित के परवर्ती माने गये हैं। अप्पय दीक्षित का काल १५२० से १५९२ ई० माना गया है। अतः मधुसूदन सरस्वती तथा रामतीर्थ का काल ईसा की सत्रहवीं शती का द्वितीय चरण माना जा सकता है। विद्वन्मनोरञ्जिनी वेदान्तसाररूपी सुवर्ण में सुहागे का काम करती है। यह टीका अत्यन्त सरल सुबोध एवं भावपूर्ण है। सुबोधिनी की अपेक्षा यह विस्तृत तथा सरलता से बोधगम्य होने वाली है। यह टीकाकार कठिन विषय को सरल बनाने में सदानन्द से भी एक पग आगे है।

(३) बालबोधिनी—इस टीका के रचयिता आपदेव द्वितीय हैं। वे ईसा की सत्रहवीं शती के प्रख्यात मीमांसकों में अन्यतम माने गये हैं। बालबोधिनी क्लिष्ट एवं दुर्बोध है। यदि इसका नाम बालबोधिनी की अपेक्षा वृद्धबोधिनी होता तो अधिक सार्थक होता। यह टीका 'वाणीविलास प्रेस श्रीरंगम्' से प्रकाशित हुई थी।

इनके अतिरिक्त भी मैनुस्क्रिप्ट्स के विभिन्न कैटलागों में वेदान्तसार की कुछ और टीकाओं का नाम-निर्देश मिलता है; किन्तु ये अभी तक न तो देखने में आई हैं और न कहीं से प्रकाशित ही हुई हैं।

सदानन्द का स्थिति-काल

नृसिंह सरस्वती ने अपनी टीका सुबोधिनी के अन्त में उसकी रचना का काल १५८८ ई० (शक० १५१०) बतलाया है। सदानन्द नृसिंह सरस्वती के परमगुरु (गुरु के गुरु) थे। गुरु-शिष्य-परम्परा में प्रत्येक पीढ़ी के लिये २५ वर्ष का समय देना पर्याप्त होता है। अतः सदानन्द का काल १५३८ ई० के कुछ पूर्व तथा उसके वर्तमान समय तक मानना अधिक समीचीन होगा। यदि परमगुरु शब्द का अर्थ है—'गुरु का गुरु' तो इसके आधार पर सदानन्द को सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण से पूर्व नहीं खींचा जा सकता है, जैसा कि कतिपय विद्वानों ने करने का दुष्प्रयास किया है।

सदानन्दों की अधिकता

संस्कृत-वाङ्मय में एकाधिक सदानन्द नामधारी विद्वान् मिलते हैं। इनमें

कुछ विशिष्ट विद्वान् तथा ग्रन्थ-रचयिता भी थे। किन्तु ध्यान से इन सदानन्द नामक आचार्यों के विषय में अध्ययन करने से स्फटिक की भांति यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सभी सदानन्द एक नहीं भिन्न-भिन्न हैं, और इनकी कृतियों के विषय में कोई भ्रांति नहीं हो सकती है।

वेदान्तसार के प्रतिपाद्य विषय

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख तत्त्व एवं सिद्धान्त ही वेदान्तसार के प्रतिपाद्य विषय हैं। वेदान्तसार के इन प्रतिपाद्य विषयों को समझ लेने पर वेदान्त की प्रक्रिया एवं वेदान्तसार को समझने में सरलता होगी। अतः यहाँ वेदान्तसार के इन प्रतिपाद्य विषयों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

आत्मा

वस्तुतः आत्मा ही सत्य है, यथार्थ है। उसके अतिरिक्त जो भी कुछ प्रतीत हो रहा है, सब मिथ्या है, भ्रम है। वेदान्त सम्प्रदाय में आत्मा एवं ब्रह्म—दोनों—पर्यायवाचक शब्द हैं। आत्मा सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। सच तो यह है कि ब्रह्म (आत्मा) न तो सत् है, न तो चित् है और न आनन्द स्वरूप ही है। वह निर्गुण है, निर्धर्म है। ऐसी अवस्था में उसे सत् चित् तथा आनन्दरूप कहना कैसे युक्ति-संगत हो सकता है? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि आत्मा को सच्चिदानन्द कहना औपचारिकमात्र है। वस्तुतः सच्चिदानन्द का अर्थ है—ब्रह्म (आत्मा) वह है जो असत् अचेतन तथा निरानन्द नहीं है। यह आत्मा ज्ञान का आश्रय नहीं, अपितु ज्ञानस्वरूप ही है।

अज्ञान

अज्ञान को माया और अविद्या भी कहा जाता है। प्रश्न उठता है, यदि ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्लक्षण है तो उससे सविशेष तथा सलक्षण जगत् की सृष्टि कैसे हुई? एक ब्रह्म से इस नानारूपात्मक जगत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव हुई? आदि प्रश्नों के समाधान के लिये अज्ञान का स्वरूप जानना आवश्यक है। यहीं यह समझ लेना आवश्यक होगा कि अज्ञान ज्ञान का अभावरूप नहीं है। यह अनिर्वचनीय है। इसके स्वरूप का कुछ भी निर्धारण सम्भव नहीं है। यह न सत् है और न असत् ही। यदि इसे सत् माना जाय तो भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान होने की अवस्था में इसका बाध हो जाता है। वहीं

वस्तु सत् होती है, जो त्रिकाल में बाधित न हो सके। इसे असत् भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी प्रतीति होती है। अतः इसे सत् तथा असत् आदि से अनिर्वचनीय मानना ही तर्कसम्मत होगा। सांख्य की प्रकृति की भाँति यह त्रिगुण है। यह भावरूप एवं ज्ञानविरोधी भी है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि "अहमज्ञः" मैं अज्ञ हूँ'।

अज्ञान (माया) की कुछ विशेषताएँ—

१—सांख्य की प्रकृति की भाँति ही यह भी अचेतन और जड़ है। सांख्य की प्रकृति अविनाशी होने के कारण सत् है, किन्तु अद्वैत वेदान्त की यह माया स्वतन्त्र न होने के कारण सत् नहीं है। यह अपने अस्तित्व के लिये ईश्वर पर आधारित है।

२—माया ब्रह्म की शक्ति है। यह ब्रह्म से अविभाज्य तथा पूर्णतः उसी पर आधारित है। माया और ब्रह्म का सम्बन्ध भी एक विशेष प्रकार का ही सम्बन्ध है, जिसे 'तादात्म्य' सम्बन्ध कहते हैं।

३—यह भावस्वरूप है। फिर भी इसे सत् नहीं कहा जा सकता। अभावात्मक न होने के कारण ही इसे भावरूप माना जाता है।

४—इसकी आवरण तथा विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। अपनी आवरण शक्ति से यह वस्तु (ब्रह्म) के यथार्थ रूप को ढक लेती है, और विक्षेपशक्ति से उसमें अन्य वस्तु (अर्थात् जगत् के) होने का भ्रम पैदा करती है।

५—यह न सत् है, न असत् है। इसके स्वरूप का ठीक-ठीक निर्धारण न हो सकने के कारण इसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

६—यह भ्रान्ति और अध्यास की जननी है। इसी के कारण ब्रह्म में जगत् का भ्रम होता है।

७—यह ज्ञान से समाप्त हो जाती है।

माया (अज्ञान) के भेद—

माया (अज्ञान) के दो भेद हैं—(१) समष्टि और (२) व्यष्टि। ऊपर बतलाये गये प्रकार से जब अविद्या अपनी आवरण शक्ति के द्वारा सब वस्तु ढक लेती है, तब उसे अविद्या या अज्ञान की समष्टि कहते हैं, और जब एक वस्तु को ढकती है, तब उसे अविद्या या अज्ञान की व्यष्टि कहते हैं।

ईश्वर

निर्विशेष एवं निर्गुण ब्रह्म जब माया की समष्टि रूप उपाधि से आवृत्त होता है, तब सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है।

जीव

जीव को व्यष्टि एवं प्राज्ञ भी कहते हैं। अज्ञान या माया को व्यष्टि रूप उपाधि से आवृत होने पर आत्मा को जीव कहा जाता है। यह शरीर और इन्द्रियों का अध्यक्ष तथा कर्म-फल का भोक्ता है।

बन्धन

वेदान्त के अनुसार समस्त जगत्प्रपञ्च असत्य, जड और दुःखपूर्ण है। एकमात्र ब्रह्म ही सत् चित् एवं आनन्दमय है। जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं। जब तक जीव अविद्यारूपी पाश में जकड़ा रहता है, तभी तक उसकी वैयक्तिक सत्ता रहती है। वह अपने आप को संसार की वस्तुओं से जुड़ा हुआ अथवा अभिन्न मानने लगता है। साधना के फलस्वरूप जब जीव का अविद्यारूपी पाश, ज्ञान के उदित होने पर, विनष्ट हो जाता है, तब उसे भान होता है कि न वह शरीर है, न इन्द्रिय है, न मन है और न बुद्धि ही है। वह अपने आप को अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म से अभिन्न समझने लगता है। यही है उसकी अपने सही स्वरूप की उपलब्धि। किन्तु अविद्या के कारण जब तक उसमें अहंकार एवं राग-द्वेष आदि की भावनाएँ बनी रहती हैं, तब तक जीव ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य को नहीं पहचान पाता है। वह अपने सही स्वरूप चैतन्य को नहीं समझ पाता है। यही है जीव का बन्धन। अज्ञान ही बन्धन है।

मोक्ष

भारतीय मनीषा ने मोक्ष को मानव-जीवन का सर्वस्व माना है। वेदान्त के अनुसार यह मोक्ष एकमात्र ज्ञान से ही उपलब्ध हो सकता है, कर्मों से नहीं। जीव के द्वारा अपने सच्चे एवं यथार्थ रूप को जान लेना ही मोक्ष है। मोक्ष और ब्रह्म—ये दोनों—पर्यायवाची शब्द हैं। जब तक जीव अज्ञान की शक्तियों से जकड़ा जाकर अपने को संसार समझता रहता है, तब तक तो वह इस संसार में इधर से उधर भटकता रहता है। किन्तु जब अतीत के संस्कार तथा वर्तमान की साधना के फलस्वरूप व्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है (अर्थात्

अपने सही रूप को पहचान लेता है) तब मुक्त हो जाता है, ब्रह्म हो जाता है। ज्ञान के उदय तथा अज्ञान के विनाश का ही नाम मोक्ष है।

सांख्य और अद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त का अध्येता व्यक्ति कभी-कभी यह सोचने लगता है कि वेदान्त की भीत्ति सांख्य के सिद्धांतों पर आधृत है।

वेदान्त सांख्य से प्रभावित है। वस्तुतः सांख्य का यह प्रभाव अद्वैत वेदान्त पर किस सीमा तक है ? इसकी परीक्षा के लिए दोनों दर्शनों की सृष्टि एवं प्रलय की प्रक्रिया तथा चेतन की विशेषताओं का अध्ययन करना होगा।

सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक है। एकत्र मिलित सत्व, रजस् एवं तमस् की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। इसी प्रकृति से समग्र जड-चेतन जगत् की सृष्टि होती है। यह जडप्रकृति जब पुरुष के सम्पर्क में आती है, तब इसमें गति स्पन्दन पैदा हो जाता है। उस समय प्रकृति से बुद्धि और बुद्धि से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्च तन्मात्राएँ और एकादश इन्द्रियाँ—पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और मन—उत्पन्न होती हैं। पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों की सृष्टि होती है।

सांख्य के अनुसार एकमात्र पुरुष के भोग एवं मोक्ष के लिए ही प्रकृति सृष्टि की ओर उन्मुख होती है। सम्पूर्ण सृष्टि अव्यक्त अर्थात् प्रकृति का ही परिणाम है।

अद्वैत वेदान्त भी सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति त्रिगुणात्मक अव्यक्त अर्थात् अज्ञान से ही मानता है। यह पुरुष के स्थान में अव्यक्त के साथ ब्रह्म के संयोग को सृष्टि के कारण के रूप में स्वीकार करता है। अज्ञान भी जड़ एवं त्रिगुणात्मक माना गया है।

सांख्य सम्पूर्ण कार्य का उत्तरदायित्व प्रकृति पर ही डालता है। पुरुष सर्वथा उससे असम्पृक्त रहता है। वह बुद्धि के संयोग से अपने आप को सुखी एवं दुःखी मान बैठता है। वस्तुतः वह सृष्टि का एक तटस्थ साक्षी मात्र है। वह अहंकार से विमूढ होकर अपने आपको कर्ता मानने लगता है। सच तो यह है कि सांख्य के अनुसार पुरुष का बन्ध और मोक्ष भी असत्य है। जिस प्रकार सेना की जय-परा-

जय सेनापति पर आरोपित होती है, उसी प्रकार प्रकृति का ही बन्ध और मोक्ष पुरुष पर आरोपित होता है। देखिये—

तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।। (सांख्याकारिका—६२)

अद्वैत वेदान्त के अनुसार भी आत्मा (जीव) न बद्ध होता है और न मुक्त होता है। वह न मुमुक्षु है और न मुक्त ही। न उसका निरोध होता और न उत्पत्ति ही (देखिये—पञ्चदशी, कूटस्थदीप प्रकरण—७१)। यहाँ पर अद्वैत वेदान्त और सांख्य की प्रक्रिया में पर्याप्त साम्य प्रतीत होता है। परन्तु दोनों में भेद यह है कि सांख्य में बन्ध एवं मोक्ष की क्रिया मिथ्या नहीं है। वहाँ प्रकृति के बन्ध एवं मोक्ष पुरुष में आरोपित होते हैं। परन्तु वेदान्त में जब प्रकृति ही अज्ञान एवं भ्रान्ति है, तब बन्ध और मोक्ष भी भ्रान्त ही हैं।

अद्वैत वेदान्त में आत्मा एक है। यह अज्ञान की व्यष्टि से उपहित होकर भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। सांख्य पुरुष की अनेकता मानता है। उसके अनुसार पुरुष बहुत से हैं—

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। (सांख्यकारिका १८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य एवं वेदान्त में कतिपय बातो में साम्य है। किन्तु सांख्य की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के बहुत से सिद्धान्त अधिक विकसित एवं भिन्न हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। सांख्य अद्वैत वेदान्त की अपेक्षा प्राचीन है। इसमें सन्देह नहीं कि सांख्य को अपने तत्त्वों के निर्धारण में स्वतन्त्र चिन्तन करना पड़ा होगा। वेदान्त की तत्त्व-प्रक्रिया सांख्य को आधार बनाकर अधिक सरलता से विकसित हुई है। अतः वेदान्त की चिन्तनधारा का अधिक सुस्पष्ट, विस्तृत एवं तर्कसंगत होना स्वाभाविक भी है।

रमाशङ्कर त्रिपाठी

व्याख्याकर्तुः परिचयः

ग्रामोऽस्ति गम्भीरपुरं मीरजापुरमण्डले ।
विन्ध्यक्षेत्रान्विते यत्र त्रिपाठिब्राह्मणान्वये ॥ १ ॥

जातो रामसुमेराह्वो बुधः परमधार्मिकः ।
तस्य भार्याऽञ्जनानाम्नी शङ्करस्य सती यथा ॥ २ ॥

प्रासूत चतुरः पुत्रान् प्राणौपम्येन संस्मृतान् ।
येषां ज्येष्ठो रामरूपो दयाधर्मान्वितः सुधीः ॥ ३ ॥

त्रिवेणीशङ्करः ख्यातः पण्डितोऽस्ति द्वितीयकः ।
रमाशङ्करनामाऽहं व्याख्याकर्त्ता तृतीयकः ॥ ४ ॥

वात्सल्यभाङ्नः सततं चतुर्थो हरिशङ्करः ।
सहायभूतः सर्वेषामेषां स्नेहानुवर्धितः ॥ ५ ॥

सोऽहं सम्प्रार्थये मूलं परमात्मानमीश्वरम् ।
हृदयग्राहिणी भूयात् कृतिः कान्ता विदां मम ॥ ६ ॥

॥ शम् ॥

—:०:—

श्रीमत्सदानन्दयोगीन्द्रविरचितः

वेदान्तसारः

—: * :—

अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥१॥

अन्वयः—(अहम्), अभीष्टसिद्धये, अखण्डम्, सच्चिदानन्दम्, अवाङ्मनसगोचरम्, अखिलाधारम्, आत्मानम्, आश्रये ॥ १ ॥

शब्दार्थः—(अहम्=मैं), अभीष्टसिद्धये=ग्रन्थसमाप्तिरूप अभीष्ट की सिद्धि के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्तिरूप अभीष्ट की सिद्धि के लिए, अखण्डम्=किसी भी तरह के भेद से शून्य अथवा अविद्याकल्पित देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित (अर्थात् अनन्त), सच्चिदानन्दम्=सत्स्वरूप अर्थात् कभी भी किसी से भी बाधित न होने वाले), ज्ञानस्वरूप या चैतन्यस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप, अवाङ्मनसगोचरम् = वाणी और मन की पहुँच से परे (अर्थात् अनिर्वचनीय और अचिन्त्य), अखिलाधारम् = समस्त (आकाश आदि प्रपञ्च) के आश्रय (अर्थात् सृष्टि, स्थिति तथा विनाश के कारण), आत्मानम् = आत्मा का (ब्रह्म का), आश्रये = आश्रय ले रहा हूँ ॥ १ ॥

अर्थः—(मैं) ग्रन्थ-समाप्तिरूप अभीष्ट की सिद्धि के लिए अथवा मोक्ष-प्राप्तिरूप अभीष्ट की सिद्धि के लिए किसी भी तरह के भेद से शून्य अथवा अविद्या-कल्पित देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित (अर्थात् अनन्त) सत्स्वरूप (अर्थात् कभी भी किसी से भी बाधित न होने वाले), ज्ञानस्वरूप या चैतन्यस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप, वाणी और मन की पहुँच से परे (अर्थात्

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नं परिसमाप्तिकामः शिष्टाचारानुरूपं प्रतिपाद्यं वस्तु ध्वनयन् मंगलमाचरति—अखण्डमित्यादिना । अहं सदानन्दः, अभीष्टसिद्धये—अभीष्टस्य = ग्रन्थपरिसमाप्तेः निःश्रेयसस्य वा सिद्धये = लाभाय, अखण्डम्=सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यम्, सच्चिदानन्दम्—सत् = सत्ता-

अनिर्वचनीय और अचिन्त्य), समस्त (आकाश आदि प्रपञ्च) के आश्रय (अर्थात् सृष्टि, स्थिति तथा विनाश के कारण) आत्मा का (अर्थात ब्रह्मरूप आत्मा का) आश्रय ले रहा हूँ ।। १ ।।

टिप्पणी—सच्चिदानन्दम्—सत्—आत्मा (ब्रह्म) सत्, है, क्योंकि किसी भी काल में किसी से भी उसका बाध नहीं होता । अद्वैत वेदान्त के अनुसार तीन प्रकार के सत् हैं—(१) प्रातिभासिक सत्, (२) व्यावहारिक सत्, (३) पारमार्थिक सत् । इनमें ब्रह्म ही पारमार्थिक सत् है, अन्य सब प्रातिभासिक सत् या व्यावहारिक सत् हैं । प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक सत् माया के कार्य हैं, अतः वे मिथ्या हैं ।

चित्—आत्मा (ब्रह्म) चैतन्यस्वरूप है । यह चैतन्य ब्रह्म का गुण नहीं अपितु स्वरूप है । यदि इसे चैतन्यस्वरूप न माना जाय तब तो यह अन्धकार के समान जड हो जायगा ।

आनन्द - ब्रह्म आनन्दस्वरूप भी है । यही कारण है कि विचारशील व्यक्ति उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं । ब्रह्म तथा आनन्द में गुण-गुणीभाव तथा धर्म-धर्मी-भाव भी नहीं है । आनन्द ब्रह्म का स्वरूप ही है ।

आत्मानम्—यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ जीवात्मा न होकर परमात्मा अर्थात् ब्रह्म है । यही कारण है कि ब्रह्म का बोध कराने वाले अखण्ड, सच्चिदानन्द आदि शब्द 'आत्मानम्' के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।। १ ।।

वान्, न तु शून्यं न वाऽनृतम्, चित् = ज्ञानं स्वप्रकाशचैतन्यरूपमित्यर्थः, अनेन ब्रह्मणोऽन्धकारस्येव जाड्यं निरस्तम्, आनन्दम् = आनन्दस्वरूपम्, अनेन तस्मिन् जनानां प्रवृत्तिर्निर्दिष्टा । इयता ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपणं विधिमुखेन कृतमधुना निषेधमुखेन तत्प्रतिपादयति—अवाङ्मनसगोचरम्—वाक् च मनश्चेति वाङ्मनसे तयोर्गोचर इति वाङ्मनसगोचरः, न वाङ्मनसगोचरः इत्यवाङ्मनसगोचरस्तम्, इन्द्रियातीतम्, अनेन ब्रह्मणः सर्वसाक्षिकत्वं सूचितम्, अखिलाधारम्—अखिलस्य = समग्रस्याकाशादिप्रपञ्चस्य आधारम्=आश्रयम्, प्रपञ्चस्य सृष्टिस्थितिलयानां कारणमिति यावत्, ब्रह्मणस्तटस्थलक्षणमेतद्यथा छत्रचामरादिकं राज्ञः, आत्मानम् = परमात्मानम्, ब्रह्म इति यावत्, आश्रये = एकत्वेन प्रतिपद्ये ।। १ ।।

अर्थतोऽप्यद्वयानन्दानतीतद्वैतभानतः ।
गुरूनाराध्य वेदान्तसारं वक्ष्ये यथामति ॥ २ ॥

अन्वयः---अतीतद्वैतभानतः, अर्थतः, अपि, अद्वयानन्दान्, गुरून्, आराध्य, यथामति, वेदान्तसारम्, वक्ष्ये ॥ २ ॥

शब्दार्थः---अतीतद्वैतभानतः = द्वैत का भान दूर हो जाने से, अथवा आत्मा का साक्षात्कार हो जाने के कारण, अर्थतः = यथार्थ रूप से, अपि = भी, अद्वयानन्दान् = अद्वयानन्द, गुरून् = गुरु की, आराध्य = आराधना करके, यथामति = बुद्धि के अनुसार, वेदान्तसारम् = वेदान्तसार (नामक ग्रन्थ) को, वक्ष्ये = कहूँगा ॥ २ ॥

अर्थः---द्वैत का भान दूर हो जाने से अथवा आत्मा का साक्षात्कार हो जाने के कारण यथार्थ रूप से (न कि केवल नाम से ही) अद्वयानन्द गुरु की आराधना करके (अपनी) बुद्धि के अनुसार वेदान्तसार (नामक ग्रन्थ) को कहूँगा ॥ २ ॥

टिप्पणी---अर्थतोऽप्यद्वयानन्दान्---ग्रन्थकार सदानन्द के गुरु का नाम था---अद्वयानन्द । अद्वयानन्द का अर्थ है---अद्वैत आनन्द का अनुभव करने वाले । ग्रन्थकार के गुरुदेव न केवल नाम से ही अद्वयानन्द थे अपितु अद्वैत आनन्द का अनुभव करने के कारण यथार्थ रूप से भी अद्वयानन्द थे ।

गुरून्---यहाँ 'गुरु' एक वचन के स्थान पर आदर की सूचना के लिये बहु-वचन का प्रयोग किया गया है ।

वेदान्तसारम्---वेदान्तसार का अर्थ है---(१) वेदान्तों का सार तथा (२) वेदान्तसार नामक ग्रन्थ ॥ २ ॥

वेदान्तसारम्---पीछे श्लोक संख्या दो में वेदान्त शब्द आया है । वेदान्त का अर्थ क्या है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में बतला रहे हैं---

---

अर्थतोऽपीति । अतीतद्वैतभानतः---अतीतम् = अपगतम् द्वैतस्य भानम् = द्वैतभानम् यतस्तस्मात्, अथवा अतीतम् = दूरीभूतम् द्वैतं यस्मात्तदतीतद्वैतम् = प्रत्यगात्मतत्त्वम् तस्य भानम् = साक्षात्कारस्तस्मात्, अर्थतः = यथार्थतः, न तु नामत एवेति भावः, अद्वयानन्दान्---अद्वये आनन्दो येषां तान्, गुरूनत्र आदरार्थे बहुवचनम्, आराध्य = प्रणामादिना उपास्य, यथामति = बुद्ध्यनुसारम्, वेदांत-सारम्, वक्ष्ये = प्रतिपादयिष्ये ॥ २ ॥

वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च। अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात्तदीयैरेवानुबन्धैस्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पृथगालोचनीयाः॥३॥

अर्थः—(प्रमारूप ब्रह्म विद्या की) प्रमाणरूप उपनिषदें ही मुख्यरूप से वेदान्त के नाम से जानी जाती हैं। और उन (उपनिषदों) के उपकारक (अर्थात् उनके मत के प्रतिपादक) शारीरकसूत्र आदि भी (गौण रूप से) वेदान्त हैं। इस (वेदान्तसार नामक ग्रन्थ) के, वेदान्त का ही प्रकरण-ग्रन्थ होने के कारण, उस (वेदान्त) के ही अनुबन्धों (परमावश्यक विचारणीय अंगों) से अनुबन्ध-युक्तता सिद्ध हो जाने के कारण उन (अनुबन्धों) की अलग से विवेचना करने की आवश्यकता नहीं है॥ ३॥

टिप्पणी—उपनिषत्प्रमाणम्—उपनिषद् रूप प्रमाण 'उपनिषद्' शब्द की सिद्धि उप नि उपसर्गपूर्वक षद्लृ (सद्) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर होती है— उप + नि + षद्लृ (सद्) + क्विप्। षद्लृ (सद्) धातु के तीन अर्थ हैं— (१) विशरण अर्थात् नाश, (२) गति और (३) अवसादन (शिथिली-करण)। यहाँ इस धातु के उक्त तीनों ही अर्थ संगत होते हैं। जब कोई मुमुक्षु व्यक्ति उपनिषद् नाम से जानी जाने वाली इस ब्रह्म विद्या के उप (समीप) जाकर नि (अर्थात् निश्चय) के साथ इसका सेवन करता है, तो यह उस मुमुक्षु के—

(१) "यह संसार ही सार वस्तु है" इस विचार को शिथिल कर देती है (संसारसारतामतिं सादयति=विषादयति शिथिलयति इति वा)।

(२) तदनन्तर उसके जन्म-मरण रूप संसार-चक्र के कारण रूप अज्ञान का ही विनाश करती है (दुःखजन्ममरणादिमूलाज्ञानं सादयति=उन्मूलयति)।

(३) पुनः सबके अन्त में ब्रह्म के पास उस मुमुक्षु को पहुँचा देती है (परमश्रेयोरूपं प्रत्यगात्मानं सादयति=गमयति)।

वेदान्तपदं विवृणोति—वेदान्तो नामेत्यादिना। उपनिषत्प्रमाणम्-उपनिषदः एव प्रमाणम्, उपनिषदो यत्र प्रमाणं वेति, तदुपकारीणि—तस्य=वेदान्तस्य उपकारीणि=अर्थविचारादिना अनुकूलानि, शारीरकसूत्रादीनि—ब्रह्मसूत्रादीनि आदिना भगवद्गीताया अपि ग्रहणम्। अस्य=वेदान्तसारनाम्ना सूत्रितुमारब्धस्यास्य

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि मुख्यरूप से ब्रह्मविद्या ही वेदान्त के नाम से कही गई है। किन्तु इस ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ भी प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध से उपनिषद् कहे जाते हैं।

शारीरकसूत्रादीनि—"शरीरमेव शारीरकं तत्र भवो जीवः शारीरकः सः सूत्र्यते = याथातथ्येन निरूप्यते यैस्तानि शारीरकसूत्रादीनि "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, इत्यादीनि वेदान्तसूत्राणि।" इस कुत्सित शरीर को ही शरीरक कहते हैं। इसमें निवास करनेवाला आत्मा शारीरक कहा जाता है। इसका ठीक-ठीक निरूपण जिन सूत्रों में किया जाय वे शारीरकसूत्र कहे जाते हैं। शारीरक सूत्र को ही ब्रह्मसूत्र या वेदान्तसूत्र भी कहते हैं। आदि पद से गीता तथा शंकराचार्य के द्वारा कृत उसके भाष्य को ग्रहण किया गया है।

प्रकरण—किसी एक शास्त्र के एक अंश से सम्बद्ध तथा दूसरे शास्त्रों के भी यथावसर उपयुक्त अंश को ग्रहण करने वाले ग्रन्थ को विद्वान् लोग प्रकरण कहते हैं—

"शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नामग्रन्थभेदं विपश्चितः" ॥ ३ ॥

वेदान्त के वे चार अनुबन्ध (अर्थात् परस्पर श्रृंखलित विचारणीय तत्त्व) कौन-कौन हैं? इस जिज्ञासा के उत्तर में बतला रहे हैं—

अनुबन्धचतुष्टयम्

तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनानि ॥ ४ ॥

अर्थः—वेदान्त के अनुबन्ध हैं—(१) अधिकारी, (२) विषय, (३) सम्बन्ध और (४) प्रयोजन। (और ये ही इस वेदान्तसार के भी अनुबन्ध हैं) ॥ ४ ॥

अब आगे क्रमशः इन चारों अनुबन्धों का निरूपण किया जा रहा है—

अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरस्सरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता ॥ ५ ॥

अर्थः—जिसने वेदों तथा (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष रूप) वेदांगों का विधिपूर्वक अध्ययन करके समस्त वेदों के तात्पर्य को

ग्रन्थस्य, तदीयैः=वेदान्तीयैरित्यर्थः, तद्वत्तासिद्धेः=अनुबन्धवत्तासिद्धेः, ते=अनुबन्धा इत्यर्थः ॥ अधिकारिणं निरूपयति—अधिकारीति। अधिगताखिल-

सामान्य रूप से ज्ञात कर लिया है और (२) जो इस जन्म तथा पूर्व जन्मों में काम्य एवं निषिद्ध कर्मों का परित्याग करके, नित्य-नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना के अनुष्ठान से समस्त पापों के दूर हो जाने के कारण अपना अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल कर लिया है तथा (३) जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न है, ऐसा प्रमाता (अर्थात् प्रमाणों के द्वारा ब्रह्मरूप प्रमेय का जिज्ञासु पुरुष) इस (ग्रन्थ तथा ब्रह्मविद्या) का अधिकारी है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—विधिवदधीत०—ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके धर्मशास्त्र में बतलाई गई विधियों के अनुसार वेदांगों के साथ चारों वेदों के अध्ययन से उनका सविधि अर्थ जानकर ही व्यक्ति इस ग्रंथ के अध्ययन का अधिकारी बनता है।

प्रमाता—प्रमाणों के आधार पर ब्रह्मरूप प्रमेय को जानने की इच्छा वाला व्यक्ति ही प्रमाता कहा जाता है।

काम्यनिषिद्ध०—काम्य, निषिद्ध तथा नित्य आदि कर्म और साधनचतुष्टय आदि क्रमशः आगे बतलाये जा रहे हैं ॥ ५ ॥

काम्यानि स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि। निषिद्धानि नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि सन्ध्यावन्दनादीनि। नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चित्तानि—पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि। उपासनानि—सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापाररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि ॥ ६ ॥

अर्थः—स्वर्ग आदि अभीप्सित (लोकों की प्राप्ति) के साधन ज्योतिष्टोम आदि (यज्ञ) काम्य कर्म हैं। नरक आदि अनिष्ट (स्थानों की प्राप्ति) के साधन ब्राह्मण-हत्या आदि निषिद्ध कर्म हैं। न करने पर (प्रत्यवाय = पापों या भावी दुःखों) के कारण सन्ध्यावन्दन आदि नित्य-कर्म हैं। पुत्र जन्म आदि के अनन्तर किये जाने वाले जातेष्टि आदि कर्म नैमित्तिक कर्म हैं। पापों के विनाश के साधन

वेदार्थः—अधिगतः=गृहीतः अखिलः=समग्रः वेदानामर्थः=तात्पर्यं येन सः, नितान्त-निर्मलस्वान्तः—नितान्तम्=अत्यन्तम् निर्मलम्=निष्कलुषम् स्वान्तम्=स्वान्तःकरणं यस्य सः निर्गतनिखिलकल्मषतया—निर्गतानि=अपगतानि दूरीभूतानीति यावत् निखिलानि=समस्तानि कल्मषाणि=पापानि यस्य सः निर्गतनिखिलकल्मषः, तस्य भावो निर्गतनिखिलकल्मषता तया, साधनचतुष्टयसम्पन्नः—साधनानां चतुष्टयमिति साधनचतुष्टयं तेन सम्पन्नः = युक्तः ॥ काम्यादीनि निरूपयति—

चान्द्रायण आदि (व्रत) प्रायश्चित्त कहे जाते हैं। सगुण ब्रह्म को आलम्बन बनाने वाली मानसिक व्यापार रूप (अर्थात् ध्यानरूप) शाण्डिल्यविद्या आदि उपासना कर्म हैं।

टिप्पणी-काम्यानि--किसी कामना से किया जाने वाला कर्म काम्य-कर्म कहलाता है।

निषिद्धानि—जो कर्म पाप और उसके फलस्वरूप नरक आदि अप्रिय स्थानों को प्राप्त कराने के कारण बनते हैं, वे निषिद्ध कर्म हैं।

नित्यानि—नित्य कर्मों को करने से यद्यपि कोई पुण्य नहीं होता, किन्तु न करने से पाप अवश्य होता है। कुछ लोग नित्य कर्मों को पूर्व जन्म के पापों का विनाशक बतलाते हैं।

नैमित्तिकानि--किसी निमित्त को प्राप्त करके, धर्म-शास्त्रों के द्वारा जिनका विधान अवश्य कर्तव्य के रूप में किया जाता है, वे नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं।

प्रायश्चित्तानि—निषिद्ध कर्मों को करने तथा विहित कर्मों को न करने से लगने वाले पापों के विनाश के लिए जो कर्म किये जाते हैं वे प्राश्चित कहलाते हैं।

चान्द्रायणादीनि--चान्द्रायण एक प्रकार के उपवास का नाम है। इसमें चन्द्रमा की वृद्धि एवं क्षय के अनुसार आहार को घटाया तथा बढ़ाया जाता है। जैसे इस व्रत का कर्ता शुक्ल पक्ष की प्रतिपत् को एक ग्रास खाता है और क्रमशः बढ़ते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास। इसी प्रकार कृष्ण पक्ष में क्रमशः घटाता है।

उपासना--उपासना मानसिक व्यापार है। इसमें सगुण ब्रह्म का ध्यान किया जाता है।

शाण्डिल्यविद्यादीनि--छान्दोग्योपनिषद् (३।१४।१) में आया हुआ वह प्रकरण जिसमें सगुणोपासना का वर्णन है—शाण्डिल्य विद्या के नाम से जाना जाता है॥ ६॥

काम्यानीति। फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यकर्माणि सन्ति। निषिद्धानि--सासारिकसुखरागात् कृतानि ब्राह्मणहननादीनि धर्मशास्त्रनिषिद्धानि कर्माणि। नित्यानि—अकरणे पापसाधनानि सन्ध्यादीनि। नैमित्तिकानि--निमित्तवशात्कृतानि जातेष्ट्यादीनि। प्रायश्चितानि—पापविनाशसाधनानि चांद्रायणादीनि। उपासनानि—सगुणब्रह्मध्यानरूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि॥

अब नित्य आदि कर्मों के प्रधान और अप्रधान फलों के विषय में बतलाया जा रहा है—

एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परम्प्रयोजनम्। उपासनानां तु चित्तैकाग्र्यम्। 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुतेः, 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादिस्मृतेश्च। नित्यनैमित्तिकयोरुपासनानां त्ववान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक' इत्यादिश्रुतेः ॥ ७ ॥

अर्थः—इन नित्य-नैमित्तिक और प्रायश्चित कर्मों का परम प्रयोजन है—बुद्धि की शुद्धि। उपासनाओं का परम प्रयोजन है—"चित्त की एकाग्रता।" उस (अर्थात् उपनिषदों में वर्णित) इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों एवं यज्ञ के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। वृहदा० ४।४।२२) इत्यादि श्रुति से तथा "तपस्या के द्वारा (ब्राह्मण) पाप को विनष्ट कर देता है" (मनु० १२।१०४) इत्यादि स्मृति से भी (नित्यादि कर्मों के द्वारा पापों का विनाश तथा चित्त को शुद्धि का समर्थन किया गया है। नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का अवान्तर (गौड अप्रधान) फल है—पितृलोक को प्राप्ति तथा उपासना का अवान्तर (अप्रधान) फल है सत्य-लोक की प्राप्ति। श्रुति भी कहती है—कर्म से पितृलोक तथा विद्या (उपासना) से सत्यलोक (को प्राप्ति होती) है" (वृहदा० १।५।१६) इत्यादि ॥ ७ ॥

टिप्पणी—विविदिषन्ति—वेत्तुमिच्छन्ति इति √विद्+सन्+अन्ति। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त के अनुसार कर्मकाण्ड मुक्ति का साक्षात् साधन न होकर परम्परया साधन है। यह व्यक्ति को ज्ञान अथवा जिज्ञासा तक पहुँचाने का एक सोपान है। अद्वैत वेदान्त तो एकमात्र ज्ञान से ही मुक्ति मानता है।

अवान्तरफलम् किसी फल देने वाले वृक्ष को लगाने का एकमात्र उद्देश्य होता है—फलों को प्राप्त करना। किन्तु व्यक्ति आवश्यकतानुसार उस वृक्ष की छाया का भी सेवन करता ही है। यह छाया-सेवन वृक्ष लगाने का मुख्य फल न होकर गौड फल है। मुख्य फल है—फलों को प्राप्त करना ही। ठीक इसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मों का मुख्य फल है—चित्त की शुद्धि और अवान्तर=गौड फल है—पितृलोक की प्राप्ति। इसी तरह उपासनाका मुख्य फल है चित्त की एकाग्रता और अवान्तर फल है—सत्यलोक की प्राप्ति। अवान्तर का अर्थ है—अमुख्य गौड तथा अप्रधान।

सत्यलोक—यह भूमण्डल से ऊपर की ओर स्थित सातों लोकों में सब से ऊपर स्थित है। सत्यलोक से मोक्ष का तात्पर्य नहीं है ॥ ७ ॥

पीछे कहा है कि—"साधन चतुष्टय से सम्पन्न प्रमाता ही अधिकारी है।" अब यहाँ यह जिज्ञासा उठती है कि ये चार साधन कौन-कौन हैं? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—

साधनचतुष्टयम्

साधनानि नित्यानित्यवस्तुविवेकेहामुत्रार्थफलभोगविरागशमादिषट्कसम्पत्तिमुमुक्षुत्वानि। नित्यानित्यवस्तुविवेकस्तावद् 'ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यमि'ति विवेचनम्। ऐहिकानां स्रक्चन्दनवनितादिविषयभोगानां कर्मजन्यतयाऽनित्यत्ववदामुष्मिकाणामप्यमृतादिविषयभोगानामनित्यतया तेभ्यो नितरां विरतिरिहामुत्रार्थफलभोगविरागः। शमादयस्तु शमदमोपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धाख्याः शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः। दमो बाह्येन्द्रियाणां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्यो निवर्तनम्। निवर्तितानामेतेषां तद्व्यतिरिक्तविषयेभ्य उपरणमुपरतिः, अथवा विहितानां कर्मणां विधिना परित्यागः। तितिक्षा शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुता। निगृहीतस्य मनसः श्रवणादौ तदनुगुणविषये च समाधिः समाधानम्। गुरूपदिष्टवेदान्तवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा। मुमुक्षुत्वं मोक्षेच्छा। एवंभूतः प्रमाता अधिकारी 'शान्तो दान्तः' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च—

'प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे' इति ॥ ८ ॥

अर्थः—साधन हैं—(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक, (२) इहामुत्रार्थफलभोगविराग, (३) शमदमादिषट्कसम्पत्ति और (४) मुमुक्षुत्व।

(१) एकमात्र ब्रह्म ही नित्य वस्तु है तथा उस (ब्रह्म) से भिन्न सब

साधनचतुष्टयं विवृणाति—नित्यानित्येत्यादिना। नित्यानित्यविवेकः—नित्यं च अनित्यं चेति नित्यानित्ये नित्यानित्ये च ते वस्तुनी इति नित्यानित्यवस्तुनी तयोः विवेकः=यथार्थतो ग्रहणं, भेदज्ञानमिति वा। इहामुत्राथफलभोगविरागः—इह = अस्मिन् जगति, अमुत्र = परलोके, अर्थ्यन्ते = प्रार्थ्यन्ते इति अर्थाः ते एव फलं कर्मजन्यत्वात् तस्य भोगः = आस्वादनं तस्मात् विरागः = अनाभोगात्मिका घृणाबुद्धिः, विधिना परित्यागः=शास्त्रोक्तरीत्या परित्यागः ॥

कुछ अनित्य है, ऐसा विवेचन करना ही नित्यानित्य-वस्तु-विवेक = नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक है। (२) इस लोक में प्राप्त होने वाले माला, चन्दन तथा स्त्री आदि विषयों के भोग जैसे कर्म के परिणाम होने के कारण अनित्य हैं, उसी तरह परलोक में प्राप्त होने वाले अमृत आदि विषयों के भोग भी (यज्ञ आदि कर्मों के परिणाम होने के कारण) अनित्य हैं, ऐसा विचार कर उन (विषयों) से अत्यन्त वितृष्णा (विरति) का होना ही ऐहलौकिक तथा पारलौकिक फलों के भोग से विराग (इहामुत्रार्थ-फल-भोग-विराग) है। (३) शमादि (षट्कसम्पत्ति) है—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को छोड़कर अन्य विषयों से मनको मोड़ लेना ही शम है। (श्रवण आदि) बाहरी इन्द्रियों को उन (श्रवण आदि) के अतिरिक्त विषयों से हटा लेना ही दम है। (विषयों से) हटा लिये गये इन (बाह्य) इन्द्रियों का उन (श्रवण आदि बाह्य इन्द्रियों) के अतिरिक्त विषयों से उपरत हो जाना (अर्थात् विषयों की ओर उन्मुख हो जाने के उत्साह से रहित हो जाना) उपरमण अर्थात् उपरति है। अथवा (सन्ध्या) पूजन आदि वेद-विहित कर्मों का (स्मृतियों की) विधि से परित्याग करना अर्थात् संन्यास ले लेना ही उपरति है। गर्मी-सर्दी (सुख-दुःख, जय-पराजय) आदि द्वन्द्वों (जोड़ों) को सहन करने की शक्ति का नाम है—तितिक्षा। वश में किये गये (निगृहीत) मन का श्रवण आदि में और श्रवण आदि के अनुरूप (गुरुसेवा आदि) विषयों में एकाग्र हो जाना ही समाधि है। गुरु के उपदेश तथा वेदान्त के वाक्यों में विश्वास होना श्रद्धा है। (४) मोक्ष की इच्छा का होना मुमुक्षुत्व है। इनसे युक्त प्रमाता "शम से युक्त, दम से युक्त····" (बृहदा० ४।४।२२) इस श्रुति के अनुसार (इस ग्रन्थ एवं ब्रह्म-विद्या का) अधिकारी होता है। कहा भी गया है—

अन्वयः—प्रशान्तचित्ताय, जितेन्द्रियाय, प्रहीणदोषाय, यथोक्तकारिणे, गुणान्विताय, च, अनुगताय, मुमुक्षवे, सर्वदा, एतत्, सकलम्, प्रदेयम् ॥

शब्दार्थः—प्रशान्तचित्ताय=शान्तचित्तवाले, जितेन्द्रियाय=इन्द्रियों को वश में करने वाले, प्रहीणदोषाय=विनष्ट पाप वाले, यथोक्तकारिणे=यथाविधि आचरण करने वाले, गुणान्विताय=(विवेक, वैराग्य उपरति आदि) गुणों से अलंकृत, च=तथा, अनुगताय=(गुरु के) अनुगामी, मुमुक्षवे=मोक्ष की इच्छा

वाले व्यक्ति को, सर्वदा=सर्वदा, एतत्=यह, सकलम् = सम्पूर्ण (आत्म-ज्ञान), प्रदेयम् = देना चाहिये। (उपदेशसाहस्री १६।७२) ॥

अर्थः—शान्तचित्त वाले, इन्द्रियों को वश में करने वाले, विनष्ट पापवाले, यथाविधि आचरण करने वाले, (विवेक, वैराग्य, उपरति आदि) गुणों से अलंकृत तथा (गुरु के) अनुगामी मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को सर्वदा यह सम्पूर्ण (आत्मज्ञान) देना चाहिये ॥

टिप्पणी—साधनचतुष्टयम्—इन कथित चारों साधनों में पूर्व-पूर्व साधन उत्तरोत्तर साधनों के भी कारण होते हैं। जैसे—'नित्यानित्यवस्तुविवेक' अपने से बाद वाले 'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' का और 'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' 'शमदमादिषट्कसम्पत्ति' का और 'शमदमादिषट्कसम्पत्ति' 'मुमुक्षुत्व' का कारण होता है।

इहामुत्रार्थफलभोगविरागः—'इह' का अर्थ है—इस लोक में और 'अमुत्र' का अर्थ है—परलोक में। 'अर्थ' कहते हैं—पदार्थों को, विषयों को। इन विषयरूपी फलों के भोग से विराग (अर्थात् उदासीनता) का होना ही 'इहामुत्रार्थफलभोगविराग' है। जिस प्रकार कृषि आदि कर्मों से प्राप्त किया हुआ अन्नरूप भोग क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार इस लोक के तथा परलोक के सारे भोग कर्मजन्य होने के कारण क्षीण होने वाले हैं अतः अनित्य हैं। यह सोच कर उनसे विरक्त हो जाना ही वैराग्य है।

विधिना परित्यागः—विहित कर्मों का विधिपूर्वक परित्याग करना अर्थात् प्राजापत्य यज्ञ को करके संन्यास में दीक्षित होकर कर्मों का परित्याग करना चाहिये, न कि आलस्य और प्रमाद के कारण। मनु ने भी कहा है—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणो प्रव्रजेद् गृहात् ॥ (मनु० ६।३८) ॥ ८ ॥

अधिकारी के निरूपण के अनन्तर अब विषय आदि अन्य अनुबन्धों का निरूपण करने जा रहे हैं—

विषयो जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यं प्रमेयम्। तत्रैव वेदान्तानां तात्पर्यात्। सम्बन्धस्तु तदैक्यप्रमेयस्य तत्प्रतिपादकोपनिषत्प्रमाणस्य च बोध्यबोधकभावलक्षणः। प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः

स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च 'तरति शोकमात्मविद्' इत्यादिश्रुतेः 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च ॥ ९ ॥

अर्थः (२)—(इस वेदान्त शास्त्र का) विषय है—जीव और ब्रह्म की एकता (non-duality) जो शुद्ध चैतन्य रूप है तथा इस शास्त्र का प्रमेय है। जीव और ब्रह्म की इसी एकता में ही समस्त वेदान्त ग्रन्थों का तात्पर्य है अर्थात् समस्त वेदान्त ग्रन्थ जीव और ब्रह्म की इसी एकता का प्रतिपादन करते हैं।

(३)—जीव और ब्रह्म के एकतारूप प्रमेय का और उस (एकतारूप प्रमेय) के प्रतिपादक उपनिषद् का परस्पर बोध्य-बोधक (ज्ञेय-ज्ञापक) भावरूप सम्बन्ध है। (इसमें जीव और ब्रह्म की एकता बोध्य है और उपनिषद् बोधक हैं)।

(४)—इस (वेदान्त शास्त्र) का प्रयोजन है—

(क) जीव और ब्रह्म की एकतारूप प्रमेय के सम्बन्ध में वर्तमान अज्ञान की निवृत्ति और (ख) अपने वास्तविक स्वरूपभूत आनन्द की प्राप्ति। इस विषय में "आत्मा को जान लेनेवाला व्यक्ति शोक (अर्थात् शोकपूर्ण इस संसार के कारण अज्ञान) को पार कर जाता है" (छान्दोग्य० ७।१।३ तथा "ब्रह्म को यथार्थरूप से जान लेनेवाला व्यक्ति ब्रह्म ही हो जाता है" (मुण्डक० ३।२।९)—ये श्रुतियाँ प्रमाण हैं।

टिप्पणी—जीवब्रह्मैक्यं शुद्धचैतन्यम्—यदि केवल इतना ही भर कहा जाय कि जीव और ब्रह्म की एकता ही इस शास्त्र का प्रमेय तथा विषय है, तो यह बात उठ सकती थी कि क्या यह एकता सर्वथा भिन्न दो तत्त्वों-दूध और पानी—की भाँति है? यह आशंका उठने न पाये इसीलिये जीव और ब्रह्म की

विषयं लक्षयति-विषय इति। जीवब्रह्मैक्यम्—जीवश्च ब्रह्म चेति जीवब्रह्मणी तयोरैक्यमिति। जीवब्रह्मणोरभेद एवास्य वर्ण्यविषय इत्यर्थः। शुद्धचैतन्यम्—तदैक्यं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तत्वात्सर्वधर्मरहितत्वाच्च शुद्धचैतन्यं निगद्यते, तत्रैव=जीवब्रह्मैक्ये इत्यर्थः, वेदान्तानां तात्पर्यात्=वेदान्तवचनानामुपक्रमोपसंहाराभ्यां तत्रैव तात्पर्यावधारणं भवति। बोध्यबोधकभावः—ज्ञाप्यज्ञापकभावः तदैक्यं बोध्यं, तद्बोधिकाश्चोपनिषद इति। तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिः—तयोः=जीवब्रह्मणोरैक्यम्=अभेदः एव प्रमेयम्=प्रमाविषयः तद्गतं यदज्ञानं तस्य

एकता को शुद्धचैतन्यरूप बतलाया है। शुद्धचैतन्य की ही एकता शुद्धचैतन्यरूप हो सकती है। जीव और ब्रह्म दोनों ही शुद्धचैतन्यस्वरूप, सभी धर्मों तथा उपाधियों से परे हैं। उनकी यह भिन्नता तो औपाधिक है, अवास्तविक है।

प्रमेयम्--यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। प्रमा का जो विषय होता है वह प्रमेय है। प्रमेय को प्रमाणों के आधार पर जाना जाता है। ज्ञातव्य वस्तु ही प्रमेय है ॥ ९ ॥

साधनचतुष्टय से सम्पन्न अधिकारी आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए क्या करे? इसके उत्तर में बतला रहे हैं--

अयमधिकारी जननमरणादिसंसारानलतप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिवोपहारपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति, 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादिश्रुतेः। स परमकृपया 'अध्यारोपापवाद' न्यायेनैनमुपदिशति, तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्राह' इत्यादिश्रुतेः ॥ १० ॥

अर्थ :—जिस प्रकार (सूर्य की प्रचण्ड किरणों से) अत्यन्त सन्तप्त शिरवाला (गंजा) व्यक्ति (शीतलता पाने की अभिलाषा से) जल भरे सरावर की ओर दौड़ता है, उसी प्रकार यह (साधनचतुष्टय से सम्पन्न) अधिकारी, जन्म-मरण आदि से युक्त संसाररूपी अग्नि से सन्तप्त होकर हाथ में कुछ उपहार लेकर, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर उनका अनुसरण करता है श्रुति भी यही कहती है--"(ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के हेतु) हाथ में हवन करने के लिए पवित्र लकड़ियों को लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ को (गुरु के पास जाना चाहिये)" इत्यादि (मुण्डक० १।२।१२)। वह (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु) अत्यन्त कृपापूर्वक 'अध्यारोप' और 'अपवाद' के न्याय से उसे उपदेश देता है, जैसा कि श्रुति भी कहती है--"वह विद्वान् (आचार्य) अपनी शरण में आये हुए उस (शिष्य) को (ब्रह्मज्ञान का) उपदेश देता है' (मुण्डक० १।२।१३)।

टिप्पणी--उपहारपाणिः--राजा, देवता तथा गुरु के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिये। "रिक्तपाणिर्न सेवेत राजानं ब्राह्मण गुरुम्' (महाभारत)।

निवृत्तिः=निवर्तनम् ।अयमधिकारीति ।जननमरणादिसंसारानलतप्तः--जननमरणादिरेव संसारः स एव अनलः=अग्निः, अग्निवद्दाहकत्वात्संसारेऽनलत्वारापत्तेन तप्तः ।उपहारपाणिः--उपहारः=देयं वस्तु पाणौ=हस्ते यस्य स उपहारपाणिः, रिक्तहस्तस्य गुरुसमीपगमनं निषिद्धमिति । ब्रह्मनिष्ठम्-ब्रह्मणि=औपनिषदे

समित्पाणिः—इसका शाब्दिक अर्थ है—हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाना चाहिये। किन्तु यह उपलक्षणमात्र है। नितान्त अर्थाभाव की दशा में ही ऐसा करना चाहिये। सामर्थ्य रहने पर अपनी शक्ति के अनुसार भेंट लेकर गुरु के पास जाना चाहिये—यह उक्त श्रुति का भाव है।

श्रोत्रियम्—वेदों के अध्येता विद्वान् को श्रोत्रिय कहा जाता है।

ब्रह्मनिष्ठम्—ब्रह्म एवं आत्मा की एकता के ज्ञान से युक्त व्यक्ति को ब्रह्मनिष्ठ कहा गया है।

अध्यारोपापवादन्यायेन—अध्यारोप और अपवाद के न्याय से। वास्तविक में अवास्तविक का भ्रम होना अध्यारोप है, जैसे—सीपी में चाँदी का भ्रम होना। यहाँ सीपी वास्तविक है और चाँदी अवास्तविक। अपवाद का शाब्दिक अर्थ है—भ्रम का निषेध। जैसे सीपी में हो रहे चाँदी के भ्रम का निषेध करके उसमें सीपी का यथार्थ ज्ञान होना अपवाद है। अध्यारोप और अपवाद का विश्लेषण आगे यथावसर करेंगे॥ १०॥

"अध्यारोप और अपवाद के न्याय से गुरु उपदेश देता है" ऐसा—पहले कहा गया है। अब यहाँ दृष्टांतपूर्वक अध्यारोप का लक्षण बतला रहे हैं।

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दाद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु। अज्ञानं सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात्, देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इत्यादिश्रुतेश्च॥ ११॥

अर्थः—असर्पभूत रज्जु में (अर्थात् जो वस्तुतः सर्प नहीं है, उस रस्सी में) सर्प के आरोप (भ्रम) के समान वस्तु (अर्थात् यथार्थ) में अवस्तु अर्थात् (अयथार्थ) का आरोप (भ्रम) होना ही अध्यारोप है। सत्, चित्, आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही वस्तु (यथार्थ) है। अज्ञान से प्रारम्भ होने वाले समस्त जड-पदार्थों का समूह अवस्तु (अयथार्थ, अवास्तविक) है। अज्ञान सत् एवं असत् रूप से अनिर्वचनीय (अर्थात् अज्ञान को न तो सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही), सत्व, रज एव तमरूपात्मक, ज्ञान का विरोधी, भावरूप (अर्थात्

ब्रह्मणि निष्ठा=नितरां निश्चयेन वा स्थितिर्यस्य सः तम् औपनिषदब्रह्मात्मविज्ञान-पूर्णमित्यर्थः॥ तत्र अध्यारोपं निरूपयति—असर्पभूतायामिति। सर्पारो-

सत्तात्मक) तथा कुछ है--ऐसा (वेदान्त के विद्वान् जन) कहते हैं। "मैं अज्ञानी हूँ"--यह अनुभव तथा "(योगियों ने) अपने सत्त्व आदि गुणों से आच्छन्न, स्वयंप्रकाश आत्मा की (मायारूप) शक्ति का प्रत्यक्ष किया।" (श्वेताश्वतर १।३) आदि श्रुति भी (अज्ञान की इस भावरूपता=सत्तात्मकता में प्रमाण हैं।)

टिप्पणी---असर्पभूतायां रज्जौ---वर्षा की अँधेरी रात में व्यक्ति जा रहा था। उसने रास्ते में एक टेढ़ी-मेढ़ी चीज देखी। उसे सर्प समझा। फिर क्या था वह चौंका कूदा और डण्डे से उस पर प्रहार किया। वह अपनी विजय पर फूल रहा था कि किसी ने टार्च की रोशनी उस पर डाली। उसने देखा कि यह तो सर्प नहीं अपितु रस्सी है। उस व्यक्ति का रस्सी को यह साँप समझना ही अध्यारोप है।

वस्तु--भूत, वर्तमान और भविष्य में न विनष्ट होनेवाली परमार्थतः सत् आत्मा ही वस्तु है।

अज्ञानम् -- अज्ञान को माया, अविद्या आदि नामों से भी कहा गया है।

सदसद्भ्यामनिर्वचनीयम्---अज्ञान को न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही। यदि अज्ञान को सत् (अर्थात् सत्तात्मक) कहा जाय तो आत्मज्ञान होने के बाद उसका विनाश नहीं होगा। किन्तु स्थिति यह है कि आत्मा का ज्ञान होने के बाद व्यक्ति का अज्ञान विनष्ट हो जाता है। यदि उसे असत् (असत्तात्मक) कहा जाय तो वन्ध्या-पुत्र तथा आकाश-कुसुम की भाँति उसकी कभी भी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। किन्तु यह तो बराबर अनुभव किया जाता है कि--'मैं अज्ञानी (अज्ञानवाला) हूँ'। यही कारण है कि अज्ञान को न तो सत् रूप कहा जा सकता है और न असत् रूप ही--'सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत।"

त्रिगुणात्मकम्---सांख्य की प्रकृति की तरह अद्वैत वेदान्तियों का यह अज्ञान भी त्रिगुणात्मक है।

पवत्=अहिभ्रमवत्, वस्तुनि=यथार्थे इत्यर्थः, अवस्त्वारोपः=अवस्तुनः=अयथार्थस्य आरोपः। वस्तु=त्रिकालाबाधितो ब्रह्मापरपर्यायः=आत्मैव वस्त्विति भावः। भावरूपम्=सत्तात्मकम्, अनेनाज्ञानस्याभावो निषिद्धः॥

ज्ञानविरोधि--अज्ञान ज्ञान का विरोधी है, अर्थात् ज्ञान से दूर होता है।

भावरूपम्--अज्ञान ज्ञान का अभावरूप नहीं है। यदि यह अभावरूप होता तो ज्ञान के द्वारा इसके दूर या विनष्ट होने की बात ही न पैदा होती। वेदान्त के अनुसार ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान की यह निवृत्ति तभी सम्भव है, जबकि यह भावरूप यानी सत्तात्मक हो।

यत्किञ्चित्--अज्ञान को न तो सत् कह सकते हैं, न असत् कह सकते हैं। और न सत्-असत् रूप ही कह सकते हैं। ऐसी अवस्था में इसे यत्किञ्चित् कहना ही उपयुक्त होगा॥ ११॥

श्रुतियों में अज्ञान को कहीं-कहीं एक बतलाया गया है और कहीं-कहीं अनेक। इस विरोधाभास को दूर करने के लिये आगे बतला रहे हैं--

इदमज्ञानं समष्टिव्यष्ट्यभिप्रायेणैकमनेकमिति च व्यवह्रियते। तथाहि--यथा वृक्षाणां समष्ट्यभिप्रायेण वनमित्येकत्वव्यपदेशो यथा वा जलानां समष्ट्यभिप्रायेण जलाशय इति तथा नानात्वेन प्रतिभासमानानां जीवगताज्ञानानां समष्ट्यभिप्रायेण तदेकत्वव्यपदेशः 'अजामेकाम्' इत्यादिश्रुतेः। इयं समष्टिरुत्कृष्टोपाधितया विशुद्धसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते सकलाज्ञानावभासकत्वात्। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इतिश्रुतेः। ईश्वरस्येयं समष्टिरखिलकारणत्वात् कारणशरीरम् आनन्दप्रचुरत्वात्कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः, सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते॥ १२॥

अर्थः--यह अज्ञान (एक होते हुए भी श्रुतियों में) समष्टि और व्यष्टि के अभिप्राय से क्रमशः एक तथा अनेक कहा जाता है अर्थात् समष्टि=समूह के अभिप्राय से एक तथा व्यष्टि=व्यक्ति के अभिप्राय से अनेक कहा जाता है। उदाहरणार्थ जैसे कि वृक्षों की समष्टि के अभिप्राय से '(यह) वन है' इस तरह एकत्व का कथन किया जाता है, अथवा जलों (अर्थात् जल की बूँदों) को समष्टि के अभिप्राय से '(यह) जलाशय है', इस प्रकार एकत्व का कथन किया जाता है, उसी प्रकार (अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से) अनेक रूपों से प्रतिभासित = प्रतीत होनेवाले जीव विषयक अज्ञानों की

समष्टि के अभिप्राय से उस (अज्ञान) के एकत्व का कथन किया जाता है— 'अजामेकाम्' (श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५) इत्यादि श्रुति से। अज्ञान की यह समष्टि (अर्थात् माया) व्यष्टि की उपाधि की अपेक्षा उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण अथवा जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट (ईश्वर) की उपाधि होने के कारण विशुद्ध सत्वगुण की प्रधानता से युक्त होती है (अर्थात् इसमें रजोगुण तथा तमोगुण की उपस्थिति रहने पर भी विशुद्ध सत्त्वगुण की ही प्रधानता रहती है)। इससे उपहित (अर्थात् अज्ञान के समष्टिरूप उपाधि से विशिष्ट) चैतन्य सम्पूर्ण अज्ञान का प्रकाशक होने के कारण सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सर्वनियामकता आदि गुणों से युक्त, अव्यक्त, अन्तर्यामी, जगत् का कारण तथा ईश्वर इत्यादि (नाम से) कहा जाता है। "जो ईश्वर (सामान्यरू से सब कुछ जानने के कारण) सर्वज्ञ और (विशेष रूप से सब को जानने के कारण) सर्ववेत्ता है" (मुण्डक १।१।९) इत्यादि श्रुति भी (इसी बात का प्रतिपादन करती है)। ईश्वर की (उपाधिभूता अज्ञान की) यह समष्टि (अर्थात् माया) सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्च का कारण होने से 'कारण-शरीर' तथा आनन्द की अधिकता से युक्त होने के कारण और कोश (म्यान) की तरह (चैतन्य=ईश्वर-चैतन्य की) आच्छादक होने से "आनन्दमय-कोश" कहलाती है। सब (स्थूल एवं सूक्ष्म उपाधियों) का उपरम अर्थात् विलय स्थान होने के कारण (अज्ञान की इस समष्टि को) "सुषुप्ति" (महासुषुप्ति अर्थात् प्रलय) कहते हैं, और इसी कारण से (अर्थात् विलय-स्थान होने के कारण से ही) इसे स्थूल एवं सूक्ष्म सृष्टि का लय-स्थान भी कहते हैं।

अज्ञानस्य रूपद्वयं प्रतिपादयति—इदमिति। एकत्वव्यपदेशः=एकत्वव्यवहारः, एकत्वेन कथनमित्यर्थः। तदेकत्वव्यपदेशः—तस्य=अज्ञानस्येत्यर्थः एकत्वव्यपदेशः= एकत्वव्यवहारः। उत्कृष्टोपाधितया—उत्कृष्टश्चासौ उपाधिस्तस्य भावस्तया, उत्कृष्टत्वं चात्राखण्डत्वव्यपदेशेन बोध्यम्, अथवा उत्कृष्टस्य = जीवापेक्षया विशिष्टस्येश्वरस्य उपाधिस्तस्य भावस्तया। विशुद्धसत्त्वप्रधाना—विशुद्धम्= रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं प्रधानम्=प्रबलम् यस्याः सा, अत्र प्रधानोपादानेन रजस्तमसोः क्षीणा सत्ता सूच्यते। सर्वोपरमत्वात्—सर्वस्य=निखिलस्य प्रपञ्चस्य उपरमणम्=लयस्तस्य भावस्तस्मात्॥

टिप्पणी—समष्टि और व्यष्टि—समष्टि और व्यष्टि शब्दों की निष्पत्ति व्याप्ति एवं समूह अर्थ के वाचक 'अश्' धातु से होती है--सम्+√अश्+क्तिन्। समष्टि का अर्थ है--समूह। वि+√अश्+क्तिन्। व्यष्टि का अर्थ है—सीमित, एक या एक को व्याप्त करनेवाली।

वेदान्त-दर्शन में अज्ञान की समष्टि को 'माया' तथा व्यष्टि को 'अविद्या' कहा गया है-'सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते। (पञ्चदशी १।१६)। एकमनेकमिति। उपनिषदों में अज्ञान के वाचक माया, प्रकृति, अविद्या, अजा आदि शब्दों के कभी एक वचन में प्रयुक्त होने से तथा कभी बहुवचन में प्रयुक्त होने से यह कहा गया है।

नानात्वेन—प्रत्येक जीव अपना अलग-अलग अज्ञान रखता है, जो उस (जीव) के द्वारा प्रकाशित होता है। जीव-विषयक अज्ञान को ही अज्ञान की व्यष्टि कहा गया है।

उपाधिः—(उप+आ+√धा+कि) प्रयोजक को उपाधि कहते हैं—प्रयोजकश्चोपाधिः—(तर्कभाषा)। जब कोई वस्तु अपने यथार्थ रूप से भिन्न रूप में प्रकाशित होती है, तब उसको भिन्न रूप से प्रकाशित होने में जो प्रयोजक कारण होता है उसे उपाधि कहते हैं। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि जब रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, तो उसमें प्रयोजक कारण व्यक्ति का अज्ञान होता है। अतः वहाँ यह अज्ञान ही उपाधि है। जब ब्रह्म ईश्वर या जीव बनता है, उस समय ईश्वर बनने में अज्ञान की समष्टि तथा जीव बनने में अज्ञान की व्यष्टि प्रयोजक कारण होने के कारण उपाधि बनती है। उपाधि से युक्त होनेवाला उपहित कहा जाता है। उपाधि से रहित को अनुपहित कहते हैं।

उत्कृष्टोपाधितया—इसके दो अर्थ हो सकते हैं—१—श्रेष्ठ उपाधि होने के कारण या २—उत्कृष्ट की उपाधि होने के कारण। अज्ञान के दो विभाग हैं—(क) अज्ञान की समष्टि तथा (ख) अज्ञान की व्यष्टि। अज्ञान की समष्टि अज्ञान की व्यष्टि से उत्कृष्ट या श्रेष्ठ उपाधि कही गई है। २—जीव की अपेक्षा ईश्वर श्रेष्ठ है, उत्कृष्ट है। अतः श्रेष्ठ ईश्वर की उपाधि होने के कारण अज्ञान की समष्टि उत्कृष्ट उपाधि है।

आनन्दमयकोशः – अज्ञान की समष्टि से आच्छादित होनेवाला ईश्वर आनन्दमय है तथा अज्ञान की समष्टि उस ईश्वर का आच्छादक है, अतः उसे आनन्दमय कोश कहा जाता है।

अब तक अज्ञान की समष्टि के विषय में बतलाया गया है। अब यहाँ अज्ञान की व्यष्टि के विषय में बतलाया जा रहा है –

यथा वनस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण वृक्षा इत्यनेकत्वव्यपदेशो यथा वा जलाशयस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण जलानीति, तथाऽज्ञानस्य व्यष्ट्यभिप्रायेण तदनेकत्वव्यपदेशः 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादिश्रुतेः। अत्र व्यस्तसमस्तव्यापित्वेन व्यष्टिसमष्टिताव्यपदेशः। इयं व्यष्टिर्निकृष्टोपाधितया मलिनसत्त्वप्रधाना। एतदुपहितं चैतन्यमल्पज्ञत्वानीश्वरत्वादिगुणकं प्राज्ञ इत्युच्यते, एकाज्ञानावभासकत्वात्। अस्य प्राज्ञत्वमस्पष्टोपाधितयाऽनतिप्रकाशकत्वात्। अस्यापीयमहंकारादिकारणत्वात्कारणशरीरम्, आनन्दप्रचुरत्वात् कोशवदाच्छादकत्वाच्चानन्दमयकोशः सर्वोपरमत्वात् सुषुप्तिरत एव स्थूलसूक्ष्मशरीरप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते॥ १३॥

अर्थः—जिस प्रकार वनकी व्यष्टियों (अर्थात् एक-एक वृक्षों) के अभिप्राय से "(ये) वृक्ष हैं"—ऐसा अनेकत्व का कथन किया जाता है (अर्थात् बहुवचन का व्यवहार किया जाता है), अथवा जिस प्रकार जलाशय की व्यष्टियों (अर्थात् एक-एक जल-कणों) के अभिप्राय से "(ये) जल हैं"—ऐसा अनेकत्व का कथन किया जाता है, उसी प्रकार अज्ञान की व्यष्टियों (अर्थात् एक-एक जीव-विषयक अज्ञानों) के अभिप्राय से उस (अज्ञान) के अनेकत्व का कथन किया जाता है। "वह परमेश्वर व्यष्टिभूत अज्ञानों के द्वारा बहुत रूप वाला प्रतीत होता है" (ऋक्संहिता ६।४७।१८) इत्यादि श्रुति से (उस एक

अज्ञानस्यानेकत्वं साधयति—यथेति। इन्द्रम्=ईश्वरम्, मायाभिः=अज्ञानैः, पुरुरूपः=बहुरूपः। निकृष्टोपाधितया—निकृष्टश्चासौ उपाधिस्तस्य भावस्तया। अत्रोपाधेर्निकृष्टत्वमज्ञानस्य समष्ट्युपाध्यपेक्षया बोध्यम्। अथवा निकृष्टस्य=ईश्वरापेक्षया न्यूनस्य जीवस्योपाधिस्तस्य भावस्तया। मलिनसत्त्वप्रधाना—मलिनम्=रजस्तमोभ्यामभिभूतं सत्त्वम्=सत्त्वगुणः प्रधानं यस्याः सा तया। प्राज्ञः—प्रकर्षेण अज्ञः। प्रायेणाज्ञो वेत्ति प्राज्ञो जीवः॥

ही अज्ञान=माया का बहुत्व के रूप में उल्लेख किया गया है)। यहाँ अज्ञान में एक व्यक्ति को व्याप्त करने के कारण व्यष्टि (–रूप अज्ञान) तथा समूह को व्याप्त करने के कारण समष्टि (–रूप अज्ञान) का कथन किया जाता है। (वस्तुतः अज्ञान एक ही है)। (अज्ञान की) यह व्यष्टि (अविद्या) निकृष्ट उपाधि होने के कारण अथवा (ईश्वर की अपेक्षा) निकृष्ट (जीव) की उपाधि होने के कारण मलिन सत्त्व गुण की प्रधानता से युक्त होती है। इस (अज्ञान की व्यष्टि से उपहित चैतन्य केवल एक अज्ञान (अर्थात् व्यष्टिरूप अज्ञान का अवभासक होने के कारण अल्पज्ञता, अनीश्वरता आदि गुणों से युक्त प्राज्ञ (प्रकृष्ट अज्ञ) कहा जाता है। इसकी उपाधि (अर्थात् उपाधिभूत व्यष्ट्यज्ञान) के (मलिनसत्त्व-प्रधान होने के कारण) अस्पष्ट होने से इनका अधिक प्रकाशक न होना ही इसके प्राज्ञ होने का कारण है। इस (प्राज्ञ=जीव) की उपाधिभूता अज्ञान की यह व्यष्टि भी (जीव के) अहङ्कार आदि का कारण होने से "कारण शरीर", आनन्द की अधिकता से युक्त होने के कारण तथा कोश (म्यान) की तरह आच्छादक होने के कारण "आनन्दमय कोश", सभी (अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न) का उपरम=विलय-स्थान होने के कारण सुषुप्ति कही जाती है। यही कारण है कि (अर्थात् इसमें सब कुछ का उपरम होने के कारण ही) यह 'स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि का लयस्थान' भी कहलाती है।

टिप्पणी—निकृष्टोपाधितया—'उत्कृष्टोपाधितया' की भाँति 'निकृष्टोपाधितया' के भी दो अर्थ हैं –१– निकृष्ट उपाधि होने के कारण अथवा २—निकृष्ट (जीव) की उपाधि होने के कारण। १—व्यष्टिरूप अज्ञान समष्टिरूप अज्ञान की अपेक्षा कम व्यापक है, न्यून है, अतः निकृष्ट उपाधि है। २– इसी प्रकार जीव भी ईश्वर की अपेक्षा कम शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण निकृष्ट है। इस जीव की उपाधि होने के कारण व्यष्टिरूप अज्ञान निकृष्ट की उपाधि है।

मालिनसत्त्वप्रधाना—व्यष्टिरूप अज्ञान निकृष्ट जीव की उपाधि है। इस अज्ञान में सत्त्व की प्रधानता अवश्य रहती है, किन्तु वह (सत्त्व) रज एवं तम के द्वारा अभिभूत होकर रहता है। ईश्वर की उपाधि समष्टि रूप अज्ञान में सत्त्व की प्रधानता होती है और वह रज तथा तम से अनभिभूत रहता है। यही कारण है कि वह सर्वज्ञ आदि गुणों से युक्त होता है और जीव अल्पज्ञ आदि से।

ईश्वर और जीव के बीच होने वाला उपाधिकृत यही भेद है। शुद्ध सत्त्व गुण में चिदात्मा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे कि जगत् की सारी वस्तुएँ प्रकाशित होता हैं। मलिन सत्त्वगुण में चिदात्मा का प्रतिबिम्ब ही साफ नहीं पड़ता है तो फिर उससे जगत् के प्रकाशित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अहङ्कारादिकारणत्वात्—यहाँ अहङ्कार शब्द का अर्थ है—अन्तःकरण। अन्तःकरण का विवेचन आगे किया जायगा। सुषुप्ति में अन्तःकरण अज्ञान में विलीन हो जाता है और जाग्रत् अवस्था में उससे ही प्रादुर्भूत होता है। यही कारण है कि अज्ञान को अहङ्कार आदि (अन्तःकरण) का कारण बतलाया गया है।

आनन्दप्रचुरत्वात्—जागरण और स्वप्न की अवस्था में आनन्द के समय ही सुख-दुःख की भी सत्ता रहती है, किन्तु सुषुप्ति में आनन्द की ही प्रचुरता होती है। वहाँ दुःख को अति क्षीण रेखा रहती है।

"सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति" (कैवल्योपनिषद् १३)।

सर्वोपरमत्वात्—सुषुप्ति में जाग्रत् अवस्था तथा स्वप्न का सारा जगत् विलीन हो जाता है।

सुषुप्तिः—अज्ञान से आवृत आत्मा की तीन दशाएँ होती हैं—(१) सुषुप्ति, (२) स्वप्न और (३) जागरण।

(१) सुषुप्ति में कारण शरीर उपाधि होता है। इसे ही आनन्दमय कोश कहा जाता है।

(२) स्वप्न अवस्था में कारण शरीर के साथ ही सूक्ष्म शरीर भी उपाधि बनता है। सूक्ष्म शरीर में तीन कोश होते हैं—(क) विज्ञानमय कोश (ख) मनोमय कोश तथा (ग) प्राणमय कोश। ये तीनों ही कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं।

(३) इस अवस्था में उक्त दो शरीरों के साथ ही स्थूल शरीर भी उपाधि बनता है। इस शरीर को अन्नमय कोश भी कहा जाता है।

अज्ञान की उपाधि से युक्त ईश्वर तथा जीव—दोनों की ये तीन-तीन अवस्थाएँ हुआ करती हैं। ईश्वर की सुषुप्तावस्था का नाम है प्रलय। सूक्ष्म भूतों की सृष्टि से सूक्ष्म शरीर की सृष्टि होने पर उसको स्वप्नावस्था होती है।

स्वप्नावस्था का अभिमानी ईश्वर 'हिरण्यगर्भ' 'सूत्रात्मा' 'ब्रह्मा' आदि कहा जाता है। सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूतों की सृष्टि होनेपर ईश्वर की जगत्कारणावस्था होती है। इस अवस्था का अभिमानी ईश्वर 'विराट्' तथा "वैश्वानर' कहा जाता है।

जीव सुषुप्तिकाल में 'प्राज्ञ', स्वप्नकाल में 'तैजस' तथा जागरण में 'विश्व' कहा जाता है।

तदानीमेतावीश्वरप्राज्ञौ चैतन्यप्रदीप्ताभिरतिसूक्ष्माभिरज्ञानवृत्तिभिरानन्दमनुभवतः। 'आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः' इति श्रुतेः, 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इत्युत्थितस्य परामर्शोपपत्तेश्च। अनयोः समष्टिव्यष्ट्योर्वनवृक्षयोरिव जलाशयजलयोरिव वाऽभेदः। एतदुपहितयोरीश्वरप्राज्ञयोरपि वनवृक्षावच्छिन्नाकाशयोरिव जलाशयजलगत-प्रतिबिम्बाकाशयोरिव वाऽभेदः। 'एष सर्वेश्वर' इत्यादिश्रुतेः ॥ १४॥

अर्थः—उस समय (अर्थात् प्रलयावस्था तथा सुषुप्त्यवस्था में) ये ईश्वर तथा प्राज्ञ=जीव चैतन्य से प्रदीप्त (अर्थात् प्रकाशित), अत्यन्त सूक्ष्म अज्ञान की वृत्तियों के माध्यम से (अपने स्वरूपभूत) आनन्द का अनुभव करते हैं। "प्राज्ञ आनन्द का भोक्ता और चेतोमुख है" (माण्डुक्योपनिषद्, ५)—इस श्रुति-वचन से तथा "मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी नहीं जाना"—इस प्रकार सोकर उठे हुए व्यक्ति की अनुभूति होने से भी (प्रलयावस्था तथा सुषुप्त्यवस्था के आनन्दानुभव का समर्थन होता है)। (अज्ञान की) इस समष्टि और व्यष्टि में वन तथा (वन के) वृक्ष की भाँति तथा जलाशय एवं जल (अर्थात् जल की बूँद) की तरह अभेद है। इस अज्ञान (की समष्टि तथा व्यष्टि) से उपहित क्रमशः ईश्वर तथा प्राज्ञ में भी उसी तरह अभेद है, जैसे वनावच्छिन्न (अर्थात् वन से नपे हुए) आकाश तथा वृक्षावच्छिन्न (अर्थात् वृक्ष से नपे हुए आकाश) में अभेद होता है, अथवा जैसे जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश तथा जल के एक बिन्दु में प्रतिबिम्बित आकाश में अभेद होता है। "यह (प्राज्ञ) ही सर्वेश्वर है" (माण्डूक्य, ६) इस श्रुति से भी (ईश्वर एवं प्राज्ञ का अभेद प्रमाणित होता है)।

टिप्पणी—अज्ञानवृत्तिभिः—जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था में जीव (प्राज्ञ)

अन्तःकरण की वृत्तियों से अनुभव करता है। किन्तु सुषुप्ति की अवस्था में अन्तःकरण अज्ञान में विलीन हो जाता है। उस समय जीव अज्ञान की सूक्ष्म वृत्तियों से आनन्द का अनुभव करता है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि ईश्वर को अन्तःकरण नहीं होता है। वह प्रलयकाल में अपनी मायावृत्ति से आनन्द का अनुभव करता है।

चैतन्यप्रदीप्ताभिः—तीनों गुण जड हैं। अतः त्रिगुणात्मक अज्ञान (माया) भी जड है (इस पर जब चैतन्य का प्रकाश पड़ता है, तब यह अनुभव कराने में समर्थ होता है। चैतन्य से प्रतिबिम्बित होकर ही अज्ञान अपनी वृत्तियों से प्राज्ञ एवं ईश्वर को अनुभव करता है।

चेतोमुखः—'चेतोमुखः' का अर्थ है—चैतन्य से प्रकाशित होने वाली अज्ञान की वृत्तियों की प्रधानता से युक्त प्राज्ञ।

ऊपर उपहित चैतन्य—ईश्वर एवं प्राज्ञ के विषय में बतला लेने के बाद अब अनुपहित चैतन्य के विषय में बतला रहे हैं—

वनवृक्षतदवच्छिन्नाकाशयोर्जलाशयजलतद्गतप्रतिबिम्बाकाशयोर्वाऽऽधारभूतानुपहिताकाशवदनयोरज्ञानतदुपहितचैतन्ययोराधारभूतं यदनुपहितं चैतन्यं तत्तुरीयमित्युच्यते। 'शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' इत्यादिश्रुतेः। इदमेव तुरीयं शुद्धचैतन्यमज्ञानादितदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सन्महावाक्यस्य वाच्यं विविक्तं संल्लक्ष्यमिति चोच्यते ॥ १५ ॥

अर्थः—जिस प्रकार वन, वृक्ष तथा वन से अवच्छिन्न (नपा हुआ) और वृक्ष से अवच्छिन्न (नपा हुआ) आकाश का आधारभूत अनुपहित आकाश (अर्थात् महाकाश) होता है, अथवा जिस प्रकार जलाशय, जलबिन्दु तथा जलाशय में प्रतिबिम्बित होने वाले आकाश और जलबिन्दु में प्रतिबिम्बित होने वाले आकाश का आधारभूत अनुपहित आकाश (अर्थात् महाकाश) होता है, उसी प्रकार इन अज्ञान (समष्टिरूप अज्ञान और व्यष्टिरूप अज्ञान) तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य (ईश्वर एवं प्राज्ञ) का आधारभूत जो अनुपहित (किसी भी उपाधि से रहित) चैतन्य है, उसे तुरीय (चतुर्थ) कहा जाता हैं। "(वेदान्ती जन अनुपहित चैतन्य को) शिव, अद्वैत तथा तुरीय (चतुर्थ) मानते हैं" (माण्डूक्य० ७) इस श्रुति-वचन से भी यही बात कही गई है। यही तुरीय

शुद्ध चैतन्य (अर्थात् अनुपहित चैतन्य) अज्ञान आदि प्रपञ्च और उस (अज्ञान) से उपहित चैतन्य से, जिस प्रकार तपा हुआ लौह-पिण्ड आग से अलग नहीं प्रतीत होता उसी प्रकार, अलग न प्रतीत होता हुआ 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७) इस महावाक्य का वाच्य (अभिधेयार्थ) होता है, और अलग प्रतीत होता हुआ लक्ष्यार्थ होता है।

टिप्पणी—आधारभूतानुपहिताकाशवत्—अनुपहिताकाश का अर्थ है-महाकाश अर्थात् वह आकाश जो घट, मठ आदि उपाधियों से रहित है।

तुरीयम्--अनुपहित चैतन्य को तुरीय इसलिए कहते हैं क्योंकि वह अज्ञान जीव तथा ईश्वर की अपेक्षा अलग है।

वाच्यम् , लक्ष्यम्--व्याकरण एवं साहित्य में वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य-ये तीन प्रकार के अर्थ माने गये हैं। उसी प्रकार इन तीनों अर्थों को बतलानेवाले क्रमशः वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक--ये तीन प्रकार के शब्द माने गये हैं। इन तीन प्रकार के शब्दों से तीनों प्रकार के अर्थों की प्रतीति के लिए उन शब्दों में क्रमशः अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक तीन प्रकार की शब्द-शक्तियाँ मानी गई हैं। अभिधा से लोक-प्रसिद्ध सामान्य अर्थ का बोध होता है। यही कारण है कि अभिधेयार्थ को वाच्यार्थ तथा मुख्यार्थ भी कहते हैं। वाच्यार्थ के प्रयोक्ता एवं ज्ञाता पढ़े एवं अनपढ़ सभी लोग होते हैं। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वाक्य में वाच्यार्थ का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता, वैसी अवस्था में लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है। यह लक्षणा रूढिवश अथवा किसी विशेष प्रयोजन में होती है। जैसे किसी ने कहा कि 'गंगा में अहीरों की बस्ती है'। यहाँ गंगा शब्द का अर्थ है 'गंगा की धारा'। उसमें बस्ती का होना असम्भव है। अतः गंगा शब्द अपना मुख्य अर्थ छोड़कर अपने से सम्बद्ध 'गंगा-तट' का बोध कराता है। तब अर्थ होता है--गंगा के तट पर अहीरों की बस्ती है। यह दूसरा अर्थ लक्षणा के द्वारा बोधित होने से लक्ष्यार्थ है। जहाँ बिना लक्षणा के भी किसी विशेष अर्थ की ध्वनि की जाती है, वहाँ व्यञ्जना होती है। जैसे किसी युवती ने एक युवक से कहा--'कल घर के सभी लोग बाहर जा रहे हैं। अतः घर में अकेले मन न लगेगा।" इसका व्यङ्ग्यार्थ यह हुआ कि यदि तुम कल के बाद आओ तो विश्वस्त एवं निश्चिन्त मिलन होगा।

अज्ञान के दो विभागों--समष्टि एवं व्यष्टि का निरूपण कर लेने के बाद अब उस (अज्ञान) के सामर्थ्य का निरूपण करने जा रहे हैं--

अस्याज्ञानस्यावरणविक्षेपनामकमस्ति शक्तिद्वयम् । आवरणशक्तिस्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव, तथाज्ञानं परिच्छिन्नमप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव,तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम्—

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा ॥इति॥

अनयैवावरणशक्त्यावच्छिन्नस्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखमोहात्मकतुच्छसंसारभावनापि सम्भाव्यते, यथा स्वाज्ञानेनावृतायां रज्ज्वां सर्पत्वसम्भावना ।

विक्षेपशक्तिस्तु, यथा रज्ज्वज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावयति एवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चमुद्भावयति तादृशं सामर्थ्यम् । तदुक्तम्—

विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्' इति ॥ १५ ॥

अर्थः इस अज्ञान की (१) आवरण और (२) विक्षेप नामक दो शक्तियाँ हैं। पहले आवरण शक्ति के विषय में बतला रहे हैं--जिस प्रकार मेघ का एक खण्ड, देखने वाले व्यक्ति के नेत्र-मार्ग को ढक लेने के कारण, अनेक योजनविस्तीर्ण सूर्य-मण्डल को ढक-सा लेता है, उसी प्रकार अज्ञान परिमित होते हुए भी, प्रमाता की बुद्धि को ढक लेने के कारण, अपरिमित तथा असंसारी आत्मा को ढक-सा लेता है (न कि वस्तुतः ढकता है)। (अज्ञान की आवरण शक्ति का) ऐसा ही सामर्थ्य है। ऐसा ही (आचार्यों के द्वारा) कहा भी गया है--

---

अज्ञानस्य शक्तिद्वयं निरूपयति--अस्येत्यादिना । आवरणविक्षेपनामकम्—आवरणशक्तिः विक्षेपशक्तिश्चेत्यर्थः, सच्चिदानन्दस्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः, ब्रह्मादिस्थावरान्तं सकलं नामरूपात्मकं प्रपञ्चं विक्षिपति सृजतीति विक्षेपशक्तिः । घनच्छन्नदृष्टिः=घनेन=मेघेन छन्ना=आवृता दृष्टिर्यस्य तादृशः, अतिमूढः=विवेकविरहितः, नित्योपलब्धिस्वरूपः—नित्यमुपलब्धिः=स्थितिः प्राप्तिर्वेति यस्य तादृशः स्वरूपं यस्य तादृशः ॥

अन्वयः—यथा, अतिमूढः, घनच्छन्नदृष्टिः (सन्), अर्कम्, घनच्छन्नम्, (अतः), निष्प्रभम्, च, मन्यते, तथा, मूढदृष्टेः, यः (आत्मा), बद्धवत्, भाति, सः, नित्योपलब्धिस्वरूपः, आत्मा, (एव), अहम् ॥

शब्दार्थः—यथा=जैसे, अतिमूढः=अत्यन्तमूढ व्यक्ति, घनच्छन्नदृष्टिः (सन्) =मेघ से अपनी दृष्टि ढक ली जाने पर, अर्कम्=सूर्य को, घनच्छन्नम्=मेघ से ढका हुआ, (अतः=इसीलिए), निष्प्रभम्=निस्तेज, च=भी, मन्यते=मानता है, तथा=उसी प्रकार, मूढदृष्टेः=मूढ व्यक्ति की दृष्टि से, यः=जो, (आत्मा=आत्मा), बद्धवत्=बन्धन में पड़ा हुआ सा, भाति=प्रतीत होता है, सः=वह, नित्योपलब्धि-स्वरूपः=नित्यज्ञान स्वरूप, आत्मा=आत्मा, (एव=ही), अहम्=मैं हूँ ॥

अर्थः—जैसे अत्यन्त मूढ व्यक्ति, मेघ से अपनी दृष्टि ढक ली जाने पर, सूर्य को मेघ से ढका हुआ (अतः) निस्तेज भी मानता है, उसी प्रकार मूढ व्यक्ति की दृष्टि से जो (आत्मा) बन्धन में पड़ा हुआ-सा प्रतीत होता है वह नित्य-ज्ञानस्वरूप आत्मा (ही) मैं हूँ ॥ (हस्तामलक १०) ॥

जिस प्रकार अपने अज्ञान से आवृत रस्सी में सर्प की सम्भावना होती है, उसी प्रकार (अज्ञान की) इसी आवरण शक्ति के द्वारा अविच्छिन्न (युक्त) आत्मा में कर्ता होने, भोक्ता होने और सुख-दुःख तथा मोह (अज्ञान) रूप तुच्छ ससार मे युक्त होने की भावना भी होती है ।

सम्प्रति विक्षेपशक्ति को बतलाया जा रहा है—जैसे रज्जु के विषय में होने वाला (व्यक्ति का) अज्ञान, अपने द्वारा आवृत रज्जु (रस्सी) में, अपनी शक्ति से, सर्प आदि की उद्भावना करता है, इसी प्रकार अज्ञान भी, अपने द्वारा ढकी हुई आत्मा में, अपनी विक्षेप नामक शक्ति के माध्यम से, आकाश आदि प्रपञ्च की उद्भावना करता है । (क्योंकि विक्षेप शक्ति का) वैसा ही सामर्थ्य है । (आचार्यों के द्वारा) कहा भी गया है—'(अज्ञान की) विक्षेप शक्ति सूक्ष्म शरीर से लेकर (स्थूल) ब्रह्माण्डपर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि करती है (वाक्यसुधा १३) ।

टिप्पणी—आवरणशक्तिः—आत्मा के वास्तविक स्वरूप अर्थात् आत्मा के सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप को ढक लेने के कारण अज्ञान की इस शक्ति को आवरण शक्ति कहते हैं ।

विक्षेपशक्तिः—ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समग्र जगत् की सृष्टि करने के कारण अज्ञान की शक्ति विक्षेपशक्ति कही जाती है।

अज्ञानं परिच्छिन्नमपि—अज्ञान को परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। फिर भी यहाँ उसे जो परिच्छिन्न कहा गया है, वह आत्मा की अपेक्षा से कहा गया है।

आवरण तथा विक्षेप नामक शक्तियों से सम्पन्न अज्ञान की उपाधि से युक्त ईश्वर जगत् का कारण है। यह बात कही जा चुकी है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है, अथवा उपादान कारण अथवा दोनों ही इसी के उत्तर में आगे कह रहे हैं—

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति ॥ १७ ॥ मकड़ी

अर्थः—(आवरण तथा विक्षेप नामक) दो शक्तियों वाले अज्ञान से उपहित चैतन्य (अर्थात् ईश्वर नामक चैतन्य अपनी (अर्थात् चेतनता की) प्रधानता से (जगत्) का निमित्त कारण होता है और अपनी उपाधि (अज्ञान) की प्रधानता से (उसका) उपादान कारण भी होता है। जैसे मकड़ी अपने जाल बनाने रूप कार्य के प्रति अपनी (अर्थात् चैतन्य की) प्रधानता से निमित्त कारण होती है और अपने शरीर की प्रधानता से (उसका) उपादान कारण भी होता है।

टिप्पणी—निमित्तम् उपादानं च—आपने देखा होगा कि मकड़ी की जब इच्छा होती है, तब वह अपने मुख से जाल उगलती हुई नीचे तक लटक जाती है या उसका ताना-बाना बुन डालती है और फिर जब उसे बिगाड़ना चाहती है, तब उसे मुँह में समेटती हुई ऊपर उठ जाती है। इस प्रकार वह जाल या ताना-बाना के प्रति अपनी चेतनता की दृष्टि से निमित्त कारण और अपने शरीर की-

---

ईश्वरस्य जगतो निमित्तोपादानकारणतां साधयन्नाह—शक्तिद्वयेति। स्वप्रधानतया=चैतन्यप्रधानतयेत्यर्थः, निमित्तम्—निमित्तकारणमिति यावत्, स्वोपाधिप्रधानतया=स्वोपाधिभूतमायाप्रधानतयेत्यर्थः। उपादानम्=उपादानकारणम् ॥

दृष्टि से उपादान कारण भी बनती है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर चैतन्य भी अपनी चेतनता की दृष्टि से जगत् का निमित्त कारण बनता है और अपनी माया की दृष्टि से उपादान कारण। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि ईश्वर जगत् का साक्षात् उपादान कारण न होकर परम्परया उपादान कारण बनता है। जिस प्रकार चुम्बन के सान्निध्य से जड लोहा गतिशील हो उठता है, उसी प्रकार चैतन्य (ईश्वर) के सान्निध्य से जड अज्ञान भी क्रियाशील हो उठता है और उससे सारे जगत् प्रपञ्च की सृष्टि होने लगती है। इस प्रकार ईश्वर जगत् का परम्परया उपादान कारण बनता है।

ईश्वर से जगत् रूप कार्य की उत्पत्ति किस क्रम से होती है, उसे यहाँ बतलाया जा रहा है—

तमःप्रधानविक्षेपशक्तिमदज्ञानोपहितचैतन्यदाकाशः, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी चोत्पद्यते। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतेः तेषु जाड्याधिक्यदर्शनात्तमःप्राधान्यं तत्कारणस्य। तदानीं सत्त्वरजस्तमांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेष्वाकाशादिषूत्पद्यन्ते। एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राण्यपञ्चीकृतानि चोच्यन्ते। एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि चोत्पद्यन्ते ॥ १८ ॥

अर्थः—तमोगुण की प्रधानता से युक्त तथा विक्षेप शक्तिवाले अज्ञान से उपहित चैतन्य (ईश्वर) से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है।" उस (जगद्विदित) इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ" (तैत्तिरीय २।१)—इस श्रुति वचन से भी (इसका समर्थन होता है)। उन आकाश आदि में जडता की अधिकता के दिखलाई पड़ने से उनके कारण में तम की प्रधानता (मानी जाती) है, (क्योंकि कारण के गुण कार्य में अवश्य ही देखे जाते हैं)। उस समय (अर्थात् सृष्टि के काल में) सत्त्व, रजस् एवं तमस् कारण में रहने वाले गुणों की मात्रा के अनु-

---

सृष्टिक्रमं निरूपयन्नाह—तम इति। उत्पद्यते=जायते एतेनाकाशस्य नित्यता निरस्ता। तेषु=आकाशादिषु तत्कारणस्य=तेषामाकाशादीनां कारणस्य। तदानीम्=सृष्टिकाले इत्यर्थः, कारणगुणप्रक्रमेण—कारणस्य=उपादानकारणस्येत्यर्थः गुणाः=सत्त्वादयस्तेषां प्रक्रमेण=अनुसारेण ॥

सार उन (कार्यभूत) आकाश आदि में उत्पन्न होते हैं। ये (आकाश आदि) ही सूक्ष्म भूत, तन्मात्राएँ और अपञ्चीकृत (महाभूत) कहे जाते हैं। इनसे सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल भूत (अर्थात् पञ्चीकृत आकाश आदि महाभूत) उत्पन्न होते हैं।

टिप्पणी - आकाशः उत्पद्यते—वेदान्ती लोग आकाश आदि को भी नित्य नहीं मानते हैं।

कारणगुणप्रक्रमेण—यह न्याय है कि 'कारण के गुण कार्य के गुणों को पैदा करते हैं'—'कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते।' कारण यदात्मक होता है, कार्य भी तदात्मक ही होता है। चैतन्य के उपाधिभूत अज्ञान में सत्त्व एवं रजस् की अपेक्षा तमोगुण प्रबल रहता है। अतः इससे उत्पन्न होनेवाले आकाश में भी तम की प्रधानता रहती है। यही क्रम आगे भी समझना चाहिये।

सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति के अनन्तर अब उनके कार्यों का वर्णन करने जा रहे हैं—

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि। अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं, वायुपञ्चकञ्चेति। ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि। एतान्याकाशादीनां सात्त्विकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्-पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। बुद्धिर्नाम निश्चयात्मिकान्तःकरणवृत्तिः। मनो नाम संकल्पविकल्पात्मिकाऽन्तःकरणवृत्तिः। अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोरन्तर्भावः। एते पुनराकाशादिगतसात्त्विकांशेभ्यो मिलितेभ्य उत्पद्यन्ते। एतेषां प्रकाशात्मकत्वात्सात्त्विकांशकार्यत्वम् ॥ १९ ॥

अर्थः - सूक्ष्मशरीर को ही लिंगशरीर कहते हैं। सूक्ष्मशरीर का निर्माण सत्रह अवयवों से होता है। (सूक्ष्मशरीर के) ये अवयव हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु। ज्ञानेन्द्रियों के नाम हैं—श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण। ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) आकाश आदि (सूक्ष्म भूतों)

लिङ्गशरीरं निरूपयति—सूक्ष्मशरीराणीति। लिङ्गशरीराणि – लिंगयते= ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिंगानि, लिंगानि च तानि शरीराणि चेति लिंगशरीराणि। व्यस्तेभ्यः=एकैकेभ्य इत्यर्थः। चित्तस्तु अनुसन्धानात्मिकाऽन्तःकरणस्य वृत्तिः, अहङ्कारस्तु अभिमानात्मिकान्तःकरणवृत्तिः ॥

में वर्तमान एक-एक सत्त्व गुण के अंश से पृथक्-पृथक् क्रमशः उत्पन्न होती है (अर्थात् आकाश के सात्त्विक अंश से श्रोत्र, वायु के सात्त्विक अंश से त्वक्, तेज के सात्त्विक अंश से चक्षु, जल के सात्त्विक अंश से जिह्वा और पृथिवी के सात्त्विक अंश से घ्राण उत्पन्न होता है)। अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं। अन्तःकरण की संकल्प-विकल्पात्मिका (अर्थात् संशयात्मिका) वृत्ति को मन कहते हैं। इन्हीं दो (बुद्धि और मन) में ही चित्त तथा अहङ्कार का अन्तर्भाव हो जाता है (अर्थात् बुद्धि में चित्त का और मन में अहङ्कार) का अन्तर्भाव हो जाता है")। ये (बुद्धि, मन, चित्त तथा अहङ्कार) आकाश आदि सूक्ष्म भूतों में रहनेवाले सत्त्वगुण के सम्मिलित अंश से उत्पन्न होते हैं। इनके प्रकाशात्मक (अर्थात् पदार्थों के ज्ञान कराने की समता) होने के कारण इन (पाँच ज्ञानेन्द्रियों, बुद्धि एवं मन) को (सूक्ष्म भूतों के) सात्त्विक अंश का कार्य कहा गया है।

टिप्पणी–लिङ्गशरीराणि––लिंगशरीर तथा सूक्ष्म शरीर एक ही है। सांख्य में भी सूक्ष्म शरीर माना गया है। किन्तु वहाँ इसके अठारह अवयव गिनाये गये हैं (देखिये सांख्यकारिका ४०)।

मिलितेभ्यः––मन और बुद्धि के सहयोग से सभी ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। बुद्धि और मन से संयुक्त हुए बिना इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण ही नहीं कर सकतीं। यही कारण है कि उन्हें पाँचों भूतों के मिलित अंशों से उत्पन्न बतलाया गया है।

प्रकाशात्मकत्वात्––सत्त्वगुण प्रकाशक (अर्थात् ज्ञान कराने वाला) होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशक होती हैं। अतः उन्हें सात्त्विक अंश का कार्य माना गया है।

सूक्ष्मशरीर तीन कोशों से युक्त होता है। ये कोश हैं––विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश। पाँच ज्ञानेन्द्रियों, बुद्धि और मन को लेकर विज्ञानमय और मनोमय कोश बनते हैं। अतः पहले इनका निरूपण किया जा रहा है––

इयं बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशो भवति। अयं कर्तृत्व-भोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं सन्मनोमयकोशो भवति ॥२०॥

अर्थः—यह बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिल कर विज्ञानमय कोश कहलाती है। (अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठी बुद्धि को मिलाकर समवेत रूप में इनके लिये 'विज्ञानमय कोश' यह पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किया जाता है)। यह विज्ञानमय कोश (अर्थात् विज्ञानमय कोश से अवच्छिन्न चिदात्मा) ही व्यवहार करने वाला जीव कहा जाता है। मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ आदि – ऐसा अभिमान करने के कारण यही इस लोक तथा पर लोक में भ्रमण करता है। मन तो ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर मनोमय कोश कहलाता है।

टिप्पणी—कर्तृत्व आदि—कर्तृत्व आदि से रहित आत्मा विज्ञानमय कोश का अभिमानी बनने पर कर्ता, भोक्ता, इस लोक तथा पर लोक में गमन करने वाला व्यावहारिक जीव हो जाता है।

प्राणमय कोश पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच प्राणों को मिलाकर बनता है। अतः पहले कर्मेन्द्रियों और पञ्च प्राणों को बतला रहे हैं—

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि। एतानि पुनराकाशादीनां रजोंऽशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक् पृथक् क्रमेणोत्पद्यन्ते। वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः। प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रस्थानवर्ती। अपानो नामावाग्गमनवान् पाय्वादिस्थानवर्ती। व्यानो नाम विश्वग्गमनवानखिलशरीरवर्ती। उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरणकरः॥ २१॥

अर्थः—कर्मेन्द्रियों के नाम हैं--वाक् (वाणी), पाणि (हाथ), पाद, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)। ये (कर्मेन्द्रियाँ) आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के असम्मिलित रजोगुण के अंश से क्रमशः अलग-अलग उत्पन्न होती हैं। (अर्थात् आकाशगत रजोगुण से वाक्, वायुगत रजोगुण से हस्त, अग्निगत रजोगुण से पाद, जलगत रजोगुण से पायु और पृथिवीगत रजोगुण से उपस्थ उत्पन्न होता है)। प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान--ये (पाँच) वायु हैं। ऊपर की ओर चलने वाले तथा नासिका के अग्र भाग में रहने वाले वायु का नाम है--प्राण। नीचे की ओर चलने वाले तथा पायु आदि स्थानों में रहने वाले वायु का नाम है---अपान। चारों ओर चलने वाले

तथा समग्र शरीर में व्याप्त वायु का नाम है—व्यान। (मरण के समय) शरीर से उत्क्रमण करने वाले, ऊपर की ओर चलने वाले, कण्ठस्थान में रहने वाले वायु का नाम है—उदान। शरीर के मध्य में गये हुये, खाये गये अन्न आदि एवं पिये गये जल आदि को ठीक तौर से व्यवस्थित करने वाले वायु का नाम है—समान।

टिप्पणी—कर्मेन्द्रियाणि—वाक् इन्द्रिय का विषय वचन, पाणि इन्द्रिय का विषय आदान (ग्रहण), पाद इन्द्रिय का विषय विहरण, पायु इन्द्रिय का विषय विसर्ग (मलनिःसारण) तथा उपस्थ इन्द्रिय का विषय आनन्द है।

रजोंऽशेभ्यो—रजोगुण उत्तेजक एवं चञ्चल होता है। कार्य में प्रवृत्त करना इसी गुण का काम है। कर्मेन्द्रियाँ कार्य में प्रवृत्ति होने वाली इन्द्रियाँ हैं। अतः इनकी उत्पत्ति रजोगुण के अंश से होनी स्वाभाविक भी है।

पञ्च वायुओं के विषय में यहाँ एक दूसरे मत को भी उपस्थित किया जा रहा है—

केचित्तु नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः। एतेषां प्राणादिष्वन्तर्भावात्प्राणादयः पञ्चैवेति केचित्॥ २२॥

अर्थः—कुछ लोग (सांख्यमतानुयायी आदि) कहते हैं कि नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय नामक पाँच और वायु हैं। इनमें उद्गिरण (डकार, वमन) कराने वाले वायु का नाम 'नाग' है। (अङ्गों के) उन्मीलन को कराने वाले वायु का नाम 'कूर्म' है। भूख को लगाने वाले वायु का नाम 'कृकल' है। जम्हाई लाने वाले वायु का नाम 'देवदत्त' है। (शरीर का) पोषण करने वाले का नाम है 'धनञ्जय'। किन्तु कुछ लोग (अर्थात् वेदान्तमत को मानने वाले) इन नाग आदि वायुओं का प्राण आदि (पीछे बतलाये गये) वायुओं में अन्तर्भाव हो जाने से प्राण आदि पाँच ही वायु हैं—ऐसा मानते हैं।

टिप्पणी—एतेषां...अन्तर्भावात्—वेदान्तसार के व्याख्याकार रामतीर्थ के अनुसार नाग का अन्तर्भाव उदान में, कूर्म का अन्तर्भाव व्यान में, कृकल और धनञ्जय का अन्तर्भाव समान में और देवदत्त का अन्तर्भाव अपान में होता है।

अब प्राण आदि पांच वायुओं की उत्पत्ति तथा प्राणमय कोश का वर्णन करने जा रहे हैं—

एतत्प्राणादिपञ्चकमाकाशादिगतरजोंऽशेभ्यो मिलितेभ्यः उत्पद्यते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं सत्प्राणमयकोशो भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंऽशकार्यत्वम् ॥ २३ ॥

अर्थः—ये प्राण आदि पाँच वायु आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के सम्मिलित रजोगुण के अंश से उत्पन्न होते हैं। प्राण आदि पाच वायुओं का यह समूह कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर 'प्राणमय कोश' होता है। इस (प्राणमयकोश) के क्रियात्मक होने के कारण इसे रजोगुण के अंश का कार्य माना गया है। (क्योंकि रजोगुण ही क्रियाप्रवर्तक एवं चञ्चल होता है)।

टिप्पणी—रजोंऽशकार्यत्वम्—सांख्यकारिका में रजोगुण को प्रेरक एवं चञ्चल बतलाया गया है—'उपष्टम्भकं चलं च रजः' (१३ वीं कारिका)।

उक्त तीनों कोश ही मिलकर सूक्ष्म शरीर बनते हैं, इसी को बतलाने जा रहे हैं—

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयो ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमय इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वादेवमेतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत्कोशत्रयं मिलितं सत् सूक्ष्मशरीरमित्युच्यते ॥ २४ ॥

अर्थः—इन कोशों के बीच में विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से सम्पन्न तथा कर्तारूप है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से सम्पन्न और करणरूप है। प्राणमय कोश क्रियाशक्ति से युक्त और कार्यरूप है। इनका यह विभाग इनकी योग्यता (क्षमता) के अनुसार किया गया है—ऐसा (शास्त्र) बतलाते हैं। ये तीनों कोश मिलकर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं।

टिप्पणी—योग्यत्वात्—बुद्धि से ही किसी वस्तु का ज्ञान होता है तथा बुद्धि से निश्चय करके ही व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। अतः विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति-सम्पन्न तथा कर्तारूप बतलाया गया है। मन संकल्प-विकल्प करता है, इच्छा करता है तथा वही किसी भी कार्य में करण बनता है, इसके सहयोग पर ही इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। अतः मनोमय कोश इच्छा शक्ति से सम्पन्न तथा करणरूप कहा गया है। प्राणों से ही कार्य करने की क्षमता प्राप्त होती है।

अतः प्राणमय कोश क्रियाशक्तिमान् बतलाया गया है। उसकी कार्यरूपता के बारे में श्रुति भी प्रमाण है—'तौ मिथुनौ समैतां ततः प्राणोऽजायत' (बृहदारण्यक १।५।१२), अर्थात् वाक् और मन—ये दोनों—परस्पर संसर्ग को प्राप्त हुए, तब उससे प्राण की उत्पत्ति हुई।" इससे यह बात प्रमाणित होती है कि वाक् तथा मन के संसर्ग से उत्पन्न होने के कारण प्राण आदि कार्यरूप हैं।

अब अज्ञान की ही भाँति लिङ्गशरीर के एकत्व तथा बहुत्व का वर्णन किया जा रहा है—

अत्राप्यखिलसूक्ष्मशरीरमेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिरनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भः प्राणश्चेत्युच्यते सर्वत्रानुस्यूतत्वाज्ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमदुपहितत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानमिति चोच्यते॥ १५॥

अर्थः—यहाँ भी सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर एक बुद्धि (उपलब्धि) का विषय होने के कारण वन अथवा जलाशय के समान समष्टि (के रूप में व्यवहृत होते) हैं, और अनेक बुद्धि (अर्थात् उपलब्धि) का विषय होने से वृक्ष या जल-बिन्दु के समान व्यष्टि भी होते हैं। (सूक्ष्म शरीर की) इस समष्टि से उपहित चैतन्य सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ तथा प्राण भी कहा गया है। सर्वत्र (अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों में सूत्र के समान) पिरोया हुआ होने के कारण (वह सूत्रात्मा कहा जाता है), और ज्ञानशक्ति से सम्पन्न (विज्ञानमय कोश), इच्छा शक्ति से सम्पन्न (मनोमय कोश) तथा क्रिया-शक्ति से सम्पन्न (प्राणमय कोश) से उपहित होने के कारण (उसे हिरण्यगर्भ एवं प्राण कहते हैं)। इस (लिङ्ग शरीर) की यह समष्टि स्थूल प्रपञ्च की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण 'सूक्ष्मशरीर' तथा 'विज्ञानमय आदि कोशत्रय' कही जाती है।

लिङ्गशरीरस्यैकत्वं बहुत्वञ्च साधयन्नाह अत्रापीति। हिरण्यगर्भः—हिरण्यस्य=हिरण्मयाण्डस्य गर्भः=गर्भभूतः हिरण्यगर्भः। मनुस्मृतौ ब्रह्मणोत्पत्तिर्हिरण्मयाण्डाद्वर्णितेति। प्राणश्चेत्युच्यते-अत्र चकारात् प्रजापतिर्ब्रह्माऽप्यच्युत इति बोध्यम्। अस्य=सूक्ष्मशरीरस्येत्यर्थः॥

जागरण काल की वासनाओं से युक्त होने के कारण (पर जागरण के विषयों से शून्य होने के कारण) इसे 'स्वप्न' भी कहते हैं। यही कारण है कि (अर्थात् 'स्वप्न' कहलाने के कारण ही) यह 'स्थूलसृष्टि का लयस्थान' भी कहलाती है।

टिप्पणी–एकबुद्धिविषयतया–एकता की बुद्धि का विषय होने के कारण।

अब व्यष्टिभूत सूक्ष्म शरीर और उससे उपहित चैतन्य की संज्ञा को बतला रहे हैं—

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं तैजसो भवति तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्। अस्यापीयं व्यष्टिः स्थूलशरीरापेक्षया सूक्ष्मत्वादिति हेतोरेव सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादिकोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्नोऽत एव स्थूलशरीरलयस्थानमिति चोच्यते ॥ २६ ॥

अर्थः––सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि से (अर्थात् एक सूक्ष्म शरीर से) उपहित चैतन्य 'तैजस' कहा जाता है, क्योंकि वह तेजोमय अन्तःकरण की उपाधि से उपहित (अर्थात् युक्त) रहता है। इस (सूक्ष्म शरीर) की यह व्यष्टि भी (आगे उत्पन्न होने वाले) स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण 'सूक्ष्म शरीर' तथा 'विज्ञानमय आदि कोशत्रय' कहलाती है। जागरण काल के संस्कारों से युक्त होने के कारण (किन्तु जाग्रदवस्था के विषयोपभोगों से रहित होने के कारण) 'स्वप्न' कहलाती है, और इसी कारण से (अर्थात् स्वप्न कही जाने के कारण से) स्थूल शरीर का लयस्थान भी कही जाती है।

टिप्पणी––तेजोमयान्तःकरणोपहितत्वात्––अन्तःकरण आकाश आदि के सम्मिलित सत्त्वगुणांश से उत्पन्न हुआ है। अतः प्रकाशकता उसका धर्म है। वह प्रकाशक है, ज्ञान का साधक है। यही कारण है कि उसे तेजोमय कहा गया है।

अब सूत्रात्मा और तैजस की एकता तथा उनकी उपाधियों की एकता का वर्णन किया जा रहा है––

एतौ सूत्रात्मतैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयाननुभवतः-'प्रविविक्तभुक्तैजस' इत्यादिश्रुतेः। अत्रापि समष्टिव्यष्ट्योस्तदुपहित-सूत्रात्मतैजसयोर्वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गत-प्रतिबिम्बाकाशवच्चाभेदः। एवं सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः ॥ २७ ॥

अर्थः—ये सूत्रात्मा और तैजस उस समय (अर्थात् स्वप्न की अवस्था में) मनोवृत्तियों (अन्तःकरण की वृत्तियों) के द्वारा सूक्ष्म विषयों (अर्थात् वासना के रूप में स्थित विषयों) का भोग करते हैं। "तैजस सूक्ष्म विषयों का भोगकर्ता है" (माण्डूक्य ४) इत्यादि श्रुति-वचनों से (भी यही बात निर्दिष्ट की गई है)। यहाँ भी (सूक्ष्म शरीरों की) समष्टि तथा व्यष्टि में और उस समष्टि तथा व्यष्टि से उपहित क्रमशः सूत्रात्मा एवं तैजस में उसी तरह अभेद है, जैसे वन एवं वृक्ष में अथवा वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश में अभेद होता है, अथवा जलाशय और जल-बिन्दु में और जलाशय में प्रतिबिम्बित होने वाले आकाश एवं जल-बिन्दु में प्रतिबिम्बित होने वाले आकाश में अभेद होता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीरों की उत्पत्ति हुआ करती है।

टिप्पणी—तदानीम्—'स्वप्न' की अवस्था में। सूत्रात्मा की स्वप्नावस्था प्रलय के बाद तथा स्थूल जगत् की सृष्टि के पूर्व की अवस्था है, तथा तैजस की स्वप्नावस्था सुषुप्ति एवं जागरण के बीच की अवस्था है।

सूक्ष्म सृष्टि के वर्णन के अनन्तर अब स्थूल सृष्टि का वर्णन करने जा रहे हैं। अतः उसके पूर्व ही पञ्चीकरण-प्रक्रिया बतला रहे हैं—

स्थूलभूतानि तु पञ्चीकृतानि : पञ्चीकरणं त्वाकाशादिपञ्चस्वेकं द्विधा समं विभज्य तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्च भागान् प्रत्येकं चतुर्धा समं विभज्य तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धभागपरित्यागेन भागान्तरेषु संयोजनम्। तदुक्तम्—

'द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते॥' इति ॥२५

अर्थः—पञ्चीकृत (भूतों) को स्थूल भूत कहते हैं। आकाश आदि पाँच सूक्ष्म भूतों में प्रत्येक को बराबर दो भागों में विभक्त करके (इस प्रकार कुल एकत्रित) उन दश भागों में जो प्राथमिक पाँच भाग हैं, उनमें प्रत्येक को चार बराबर हिस्सों में बाँटकर (प्रत्येक के) उन चारों भागों को अपने-अपने द्वितीय

सूत्रात्मतैजसोरभेदं साधयति—एताविति। तदानीम् = स्वप्नावस्थायाम्। सूत्रात्मनः स्वप्नावस्था प्रलयानन्तरं स्थूलजगत उत्पत्तिपूर्वमायाति तथा तैजसस्य स्वप्नावस्था सुषुप्तेर्जागरणस्यान्तरालावस्थेति ज्ञेयम्॥

भाग को छोड़कर अन्य भूत के द्वितीय अर्ध भागों में मिलाना ही पञ्चीकरण है। कहा भी गया है—

"प्रत्येक भूतों को दो-दो भागों में विभक्त करके, पुनः प्रथम भागों को चार भागों में विभक्त करके अपने-अपने से भिन्न चार भूतों के दूसरे भागों में मिला देने से वे पाँच (आकाश आदि) पञ्चात्मक हो जाते हैं।" (पञ्चदशी १।२७)।

टिप्पणी--पञ्चीकरणम्--पञ्चीकरण हो जाने पर प्रत्येक स्थूल भूत का स्वरूप इस प्रकार होगा - प्रत्येक स्थूल भूत में $\frac{1}{2}$ भाग स्वयं उसका तथा शेष चार भूतों में से प्रत्येक का $\frac{1}{8}$ भाग मिला हुआ होता है। इस प्रकार आकाश में $\frac{1}{2}$ भाग स्वयं आकाश का और $\frac{1}{8}$ भाग वायु का, $\frac{1}{8}$ भाग जल का, $\frac{1}{8}$ भाग तेज का और $\frac{1}{8}$ भाग पृथ्वी का होगा।

आगे पञ्चीकरण की प्रामाणिकता के लिए श्रुति प्रमाण प्रस्तुत करने जा रहे हैं—

अस्याप्रामाण्यं नाशङ्कनीयं; त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पाञ्चात्मकत्वे समानेऽपि तेषु च 'वैशेष्यात्तद्वादस्तद्वादः' इति न्यायेनाकाशादिव्यपदेशः सम्भवति। तदानीमाकाशे शब्दोऽभिव्यज्यते वायौ शब्दस्पर्शावग्नौ शब्दस्पर्शरूपाण्यप्सु शब्दस्पर्शरूपरसाः पृथिव्यां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्च ॥ २९ ॥

अर्थः—इस (पञ्चीकरण) की अप्रामाणिकता की आशङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि 'त्रिवृत्करण' की श्रुति। (छान्दोग्योपनिषद् ६।३।२) पञ्चीकरण का भी उपलक्षण (अर्थात् सूचक) है। पाँचों महाभूतों में समान रूप से पाँचों महाभूतों के भाग के रहने पर भी 'अधिक भाग के आधार पर ही तत्तन्नाम (उस-उस नाम) से पुकारा जाता है, (ब्रह्मसूत्र २।४।२२) इस न्याय के अनुरूप उन्हें आकाश आदि नाम से पुकारना सम्भव होता है। उस समय (अर्थात् पञ्चीकरण के अनन्तर) आकाश में शब्द अभिव्यक्त होता है, वायु में शब्द और स्पर्श, अग्नि में शब्द स्पर्श तथा रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस, एवं पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध (स्पष्ट रूप से आविर्भूत होते हैं)।

पञ्चीकरणस्य श्रुतिप्रामाण्यमुपस्थापयति —अस्येति। अस्य=पञ्चीकरणस्येत्यर्थः, त्रिवृत्करणश्रुतेः—त्रिवृत्करणस्य=तेजोजलान्नानां सम्मिश्रणस्य श्रुतेः=उपनिषद्वचनस्येत्यर्थः, उपलक्षणत्वात्=सूचकत्वात् ॥

टिप्पणी–त्रिवृत्करणश्रुतेः—"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति' (छान्दोग्य० ६।३।२-३) अर्थात् 'उस देवता ने विचार किया कि अब मैं इस जीवात्मा रूप से इन तीनों (तेज, जल तथा अन्न नामक) देवताओं में प्रवेश कर नाम और रूप की (अर्थात् समग्र प्रपञ्च की) अभिव्यक्ति करूँ।' ऐसा विचार कर उस परमात्मदेवता ने तेज, जल और अन्न नामक तीन देवों में प्रत्येक को त्रिवृत्-त्रिवृत् कर दिया। यही है त्रिवृत्-करण की श्रुति।

आकाशादिव्यपदेशः—पूर्वपक्षी—आकाश को आकाश कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि उसमें आकाश के अंश के अतिरिक्त शेष चार भूतों के भी अंश सम्मिलित हैं।

सिद्धान्ती—हमारे यहाँ यह सिद्धान्त प्रचलित है कि—'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति', अर्थात् प्रधान का नाम लेकर ही व्यवहार किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आकाश को हम आकाश कहते हैं, क्योंकि उसमें ½ भाग आकाश का है और ½ में शेष चार भूत मिले हुए हैं। यही बात अन्य महाभूतों के विषय में भी जाननी चाहिए।

अब पञ्चीकरण के अनन्तर होनेवाली स्थूल सृष्टि का वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरि विद्यमानानामतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानामधोऽधो विद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति। चतुर्विधशरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपश्वादीनि। अण्डजान्यण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि। उद्भिज्जानि भूमिमुद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि। स्वेदजानि स्वेदेभ्यो जातानि यूकामशकादीनि ॥ ३० ॥

अर्थः—इन पञ्चीकृत भूतों से, क्रमशः ऊपर-ऊपर स्थित भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्यम्—इन नामों वाले ऊपर की ओर विद्यमान लोक, तथा क्रमशः नीचे-नीचे की ओर स्थित अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल—इन नामों वाले नीचे की ओर विद्यमान लोक, समूचे

ब्रह्माण्ड और उस ब्रह्माण्ड के मध्य-स्थित चार प्रकार के स्थूल शरीर तथा इन स्थूल शरीरों के लायक अन्न-पान आदि की उत्पत्ति होती है। ये चार प्रकार के (स्थूल) शरीर हैं--(१) जरायुज, (२) अण्डज, (३) उद्भिज्ज तथा (४) स्वेदज। जरायु (अर्थात् गर्भाशय की झिल्ली) से उत्पन्न होने वाले मानव और पशु आदि जरायुज कहे जाते हैं। अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं। भूमि को फोड़कर पैदा होने वाले तृण और वृक्ष आदि उद्भिज्ज हैं। पसीना से उत्पन्न होने वाले यूका तथा मशक (एवं चीलर) आदि स्वेदज कहलाते हैं।

टिप्पणी---ब्रह्माण्डस्य---ऊपर बतलाये गये सभी लोकों को सभी तरफ से लोकालोक पर्वत घेर कर स्थित हैं, लोकालोक को उसके बाहर पृथिवी घेरे है, पृथिवी को बाहर की ओर से समुद्र घेर कर स्थित हैं। इन सभी को मिला कर एक शब्द में ब्रह्माण्ड कहा जाता है।

यहाँ अब स्थूल शरीरों की भी समष्टि तथा व्यष्टि दिखलाने जा रहे हैं—

अत्रापि चतुर्विधसकलस्थूलशरीरमेकानेकबुद्धिविषयतया वनवज्जलाशयवद्वा समष्टिः वृक्षवज्जलवद्वा व्यष्टिरपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरो विराडिति चोच्यते सर्वनराभिमानित्वाद् विविधं राजमानत्वाच्च। अस्यैषा समष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वाच्च स्थूलशरीरं जाग्रदिति च व्यपदिश्यते ॥ ३१ ॥

अर्थः---यहाँ भी चार प्रकार के सम्पूर्ण स्थूल शरीर एकत्व की बुद्धि के विषय होने से वन या जलाशय के समान समष्टि तथा अनेकत्व की बुद्धि के विषय होने से वृक्ष या जल-बिन्दु के समान व्यष्टि भी होते हैं। (स्थूल शरीर की) इस समष्टि से उपहित चैतन्य समग्र प्राणियों का अभिमानी (अर्थात् अधिष्ठाता

स्थूलशरीरसमष्टिं तद्व्यष्टिञ्च विवेचयति--अत्रापीति। इति चोच्यते---अत्र चकारात् पूर्णत्वात् पुरुष इत्युच्यते इत्यपि ग्राह्यम्। सर्वनराभिमानित्वात्—सर्वेषाम् = समस्तानाम् नराणाम् = प्राणिनाम् अभिमानित्वात् = अधिष्ठातृत्वादस्य वैश्वानरत्वमिति। स्थूलभोगः=अत्यन्तं स्पष्टो भोगः। जाग्रत् =इन्द्रियैरर्थोपलब्धिभावादस्य जाग्रदिति संज्ञा, "इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्" इति शङ्कराचार्यकृते पञ्चीकरणे ॥

होने से 'वैश्वानर' तथा विविध रूपों में (अर्थात् मानव, दानव, पशु, पक्षी, वृक्ष तथा पर्वत आदि रूपों में) विराजमान होने के कारण 'विराट्' कहा जाता है। इस (वैश्वानर या विराट्) की यह (स्थूल शरीरों की) समष्टि (इसका) स्थूल शरीर है। अन्न का विकार होने से तथा कोश की तरह आत्मा का आच्छादक होने से इसे 'अन्नमय कोश' स्थूल भोगों का आयतन होने से स्थूल शरीर और 'जाग्रत्' भी कहा जाता है।

टिप्पणी—सर्वनराभिमानित्वात्—सर्व शब्द का अर्थ है—समग्र। 'नर' शब्द का अर्थ है—प्राणिमात्र। अभिमानी का अर्थ है—अधिष्ठाता। अर्थात् समग्र प्राणियों का अधिष्ठाता होने के कारण।

जाग्रत्—इन्द्रियों से भोग्य पदार्थों की उपलब्धि करने के कारण इसे 'जाग्रत्' कहते हैं।

अब व्यष्टिरूप स्थूल शरीर तथा उससे उपहित चैतन्य की संज्ञा आदि का विवेचन करने जा रहसे हैं—

एतद्व्यष्ट्युपहितं चैतन्यं विश्व इत्युच्यते सूक्ष्मशरीराभिमानमपरित्यज्य स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्। अस्याप्येषा व्यष्टिः स्थूलशरीरमन्नविकारत्वादेव हेतोरन्नमयकोशो जाग्रदिति चोच्यते ॥ ३२ ॥

अर्थः—इन स्थूल शरीरों की व्यष्टि (अर्थात् एक स्थूल शरीर) से उपहित चैतन्य 'विश्व' कहा जाता है, क्योंकि यह चैतन्य सूक्ष्म शरीर के अभिमान का परित्याग किये विना ही स्थूल शरीर आदि में प्रविष्ट होता है। स्थूल शरीरों की यह व्यष्टि अथवा 'विश्व' की उपाधिभूता यह व्यष्टि स्थूल शरीर कही जाती है। अन्न का विकार होने के कारण तथा कोश (म्यान) की भाँति आच्छादक होने के कारण इस (स्थूल शरीर) को 'अन्नमय कोश' तथा (स्थूल भोगों का साधन होने के कारण) 'जाग्रत्' कहा जाता।

टिप्पणी—स्थूलशरीरादिप्रविष्टत्वात्—यहाँ 'आदि' शब्द निरर्थक-सा प्रतीत होता है, क्योंकि स्थूल शरीर की अपेक्षा और कोई अधिकतर स्थूल उपाधि अवशिष्ट नहीं रह जाती है। अथवा इसकी व्याख्या वेदान्तसार की प्रसिद्ध टीका विद्वन्मनोरञ्जिनी' के रचयिता रामतीर्थ के शब्दों में इस प्रकार की जा सकती है—

सूक्ष्म शरीर का अर्थ है—'कारण शरीर' उसका परित्याग किये बिना स्थूल शरीर आदि में अर्थात् कारण शरीर की अपेक्षा स्थूल शरीर = लिंग शरीर है आदि में जिसके ऐसे परमस्थूल शरीर (अन्न के विकार इस शरीर) में प्रविष्ट करने के कारण उस चैतन्य की 'विश्व' संज्ञा है—"सूक्ष्मशरीरं कारणशरीरं तदपरित्यज्य स्थूलशरीरादौ तदपेक्षया स्थूलशरीरं लिंगशरीरं तदादिर्यस्य परम-स्थूलशरीरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिस्तस्मिन् प्रविष्टत्वात् ।"

विश्वः—कारण शरीर, लिंग शरीर तथा स्थूल शरीर में प्रविष्ट होने के कारण चैतन्य को विश्व कहा जाता है ।

अब विश्व तथा वैश्वानर को, जाग्रदवस्था में, प्राप्त होने वाले भोगों का विवरण देने जा रहे हैं—

तदानीमेतौ विश्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्, अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च सर्वानेतान् स्थूलविषयाननुभवतः 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' इत्यादिश्रुतेः । अत्राप्यनयोः स्थूलव्यष्टिसमष्टयोस्तदुपहितविश्ववैश्वानरयोश्च वनवृक्षवत्तदवच्छिन्नाकाशवच्च जलाशयजलवत्तद्गतप्रतिबिम्बाकाशवच्च पूर्ववदभेदः । एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः ॥ ३३ ॥

अर्थः—उस समय (अर्थात् जागरण की अवस्था में) ये दोनों-विश्व और वैश्वानर—दिक्, वायु, सूर्य, वरुण तथा अश्विनी कुमारों से क्रमशः नियन्त्रित श्रोत आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों से (अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण से) क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन स्थूल विषयों—का, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम तथा प्रजापति के द्वारा क्रमशः नियन्त्रित वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों से (अर्थात् वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ से) क्रमशः वचन (बोलना) आदान (ग्रहण करना), गमन, विसर्ग (मल-त्याग) और आनन्द (अर्थात् मैथुन से होने वाले आनन्द)—इन स्थूल विषयों का, चन्द्रमा, ब्रह्मा, शंकर तथा अच्युत (विष्णु) से क्रमशः नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त नामक इन चार भीतरी इन्द्रियों (अन्तःकरणों) से क्रमशः संकल्प, निश्चय, गर्व और

स्मरण—इन सम्पूर्ण स्थूल विषयों का अनुभव (भोग) करते हैं। "जाग्रत अवस्था वाला, बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला (वैश्वानर ही स्थूल विषयों का भोग करता है)" (माण्डक्यू० ३) आदि श्रुति वचनों से (भी यही बात प्रमाणित होती है)।

यहाँ पर भी स्थूल शरीरों की व्यष्टि एवं समष्टि में और उस व्यष्टि तथा समष्टि से उपहित 'विश्व' एवं 'वैश्वानर' में, वन एवं वृक्ष तथा वन और वृक्ष से अवच्छिन्न आकाश की भाँति अथवा जलाशय एवं जलविन्दु तथा जलाशय में प्रतिबिम्बित आकाश और जलविन्दु में प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति पूर्ववत् अभेद है। इस प्रकार पञ्चीकृत पाँच भूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

टिप्पणी—तदानीम्—'तदानीम्' का अर्थ है—जाग्रदवस्था में। भूतों के पञ्चीकरण के अनन्तर जब महाभूतों से स्थूल जगत् की सृष्टि हो जाती है, तब वैश्वानर की जाग्रदावस्था होती है। इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग करने की अवस्था ही विश्व की जाग्रदवस्था है।

चैत्तान्—चित्त से सम्बन्ध रखनेवाले या चित्त के विषय यानी स्मरण को 'चैत्त' कहा जाता है।

क्रमशः कारण-सृष्टि, सूक्ष्म-सृष्टि तथा स्थूल-सृष्टि का निरूपण किया जा चुका। अब इनकी समष्टि के विषय में बतला रहे हैं—

एतेषां स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चानामपि समष्टिरेको महान् प्रपञ्चो भवति यथावान्तरवनानां समष्टिरेकं महद्वनं भवति यथा वाऽवान्तरजलाशयानां समष्टिरेको महान् जलाशयः। एतदुपहितं वैश्वानरादीश्वरपर्यन्तं चैतन्यमप्यवान्तरवनावच्छिन्नाकाशवदवान्तरजलाशयगतप्रतिविम्बाकाशवच्चैकमेव ॥ ३४ ॥

अर्थः—इन स्थूल-सृष्टि सूक्ष्म-सृष्टि तथा कारण-सृष्टि की भी समष्टि एक महान् सृष्टि बन जाती है, जैसे कि विभिन्न वनों की समष्टि एक महान वन हो जाता है अथवा जैसे कि विभिन्न जलाशयों की समष्टि (मिलकर) एक महान् जलाशय हो जाता है। इन तीन प्रकार की सृष्टियों से उपहित होनेवाले चैतन्य-ईश्वर, हिरण्य-गर्भ तथा वैश्वानर—भी एक ही हैं, जैसे कि भिन्न-भिन्न वनों से अवच्छिन्न होनेवाला आकाश सच्चे अर्थ में एक ही है, अथवा जैसे भिन्न-भिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होने वाला आकाश वस्तुतः एक ही आकाश है।

आभ्यां महाप्रपञ्चतदुपहितचैतन्याभ्यां तप्तायःपिण्डवदविविक्तं सदनुपहितं चैतन्यं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति वाक्यस्य वाच्यं भवति विविक्तं सल्लक्ष्यमपि भवति । एवं वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः सामान्येन प्रदर्शितः ॥ ३५ ॥

अर्थः—(स्थूल-प्रपञ्च, सूक्ष्म-प्रपञ्च तथा कारण-प्रपञ्च की समष्टिरूप) इस महाप्रपञ्च तथा महाप्रपञ्च की उपाधि से विशिष्ट चैतन्य से, तपे हुए लोहे के गोले के समान, अलग न ज्ञात होता हुआ अनुपहित (अर्थात् किसी भी तरह की उपाधि से रहित) चैतन्य "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अर्थात् "यह सकल स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् ब्रह्म ही है" (छान्दोग्य ३।१४।१) इस श्रुति-वचन का अभिधेय अर्थ (वाच्यार्थ) होता है, तथा अलग प्रतीत होता हुआ लक्ष्यार्थ भी होता है। इस प्रकार वस्तु (सच्चिदानन्द, अद्वय ब्रह्म) में अवस्तु (अवास्तविक अर्थात् अज्ञान तथा उसके कार्यभूत सकल जड-समूह का आरोप जिसमें होता है ऐसा अध्यारोप सामान्यरूप से दिखलाया गया ।

टिप्पणी—वाच्यम्—"अयो दहति"=लोहा जला रहा है। लोहा जब अग्नि में तप जाता है, तब उसके स्पर्श से जल जाने पर "मैं लोहे से जल गया" इस प्रकार लोग कहते हैं। वस्तुतः जला आग से ही जाता है, लोहे से नहीं। किन्तु जब लोहे को अग्नि माना जाय या अग्नि और लोहे में तादात्म्य माना जाय तभी यह व्यवहार बन सकता है। इसी प्रकार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"= "यह सब (महाप्रपञ्चरूप उपाधि तथा उस उपाधि से उपहित चैयन्य) ब्रह्म (अर्थात् अनुपहित तुरीय चैतन्य) ही है" इस प्रकार का व्यवहार तभी सम्भव होता है, जब कि महाप्रपञ्चरूप उपाधि तथा उससे उपहित चैतन्य में अभेद या तादात्म्य (अर्थात् तादात्म्याध्यास) माना जाय। ऐसी अवस्था में ही उक्त तत्तत् अर्थ 'अयो दहति' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इन वाक्यों के वाच्य हुआ करते हैं।

लक्ष्यम्—जब महाप्रपञ्च रूप उपाधि तथा उससे उपहित चैतन्य से अनुपहित चैतन्य को अलग मानते हैं, तब वह अनुपहित चैतन्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'

तत्पदार्थे ब्रह्मणि अध्यारोपं सामान्येन निरूप्योपसंहरति—एवमित्यादिना । वस्तुनि=यथार्थे सच्चिदानन्दस्वरूपे ब्रह्मणीत्यर्थः, अवस्त्वारोपः—अवस्तुनः= अयथार्थस्य, जडस्य प्रपञ्चस्येत्यर्थः आरोपः, सामन्येन=संक्षेपेण ॥

का लक्ष्यार्थ होता है। अर्थात् जैसे 'अयो दहति' में मुख्यार्थ=वाच्यार्थ का बाध होता है, क्योंकि जलाना लोहे का धर्म नहीं है तब 'अयः' पद की 'अयः सम्बद्ध अग्नि' में लक्षणा होकर 'लोहे को अग्नि जलाता है' यह लक्ष्यार्थ बोध होता है। इसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य का वाच्यार्थ भी ठीक नहीं बैठता है, क्योंकि महाप्रपञ्च जड है और उससे उपहित चैतन्य सोपाधिक होने से ससीम आदि है अतः इन दोनों की निरुपाधिक अनन्त ब्रह्म के साथ एकता नहीं हो सकती। ऐसी अवस्था में इस वाक्य का ठीक-ठीक आशय समझने के लिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर, 'इदं' पदार्थ के विशेषण वाले अंश का परित्याग करके केवल 'चैतन्य' अंश लेने पर इदं पदार्थ चैतन्य और ब्रह्म की एकता सिद्ध हो जाती है। इस तरह की लक्षणा को भागलक्षणा=जहदजहल्लक्षणा कहते हैं। इसका सविस्तार वर्णन आगे आयेगा।

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के तत्पदार्थ ब्रह्म पर होनेवाले अध्यारोप का निरूपण कर लेने पर अब 'त्वं' पदार्थ प्रत्यगात्मा पर किये जाने वाले कुछ आरोपों का विवेचन किया जा रहा है--

इदानीं प्रत्यगात्मनीदमिदमयमयमारोपयतीति विशेषत उच्यते। अतिप्राकृतस्तु--'आत्मा वै जायते पुत्रः' इत्यादिश्रुतेः, स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात्पुत्रे पुष्टे नष्टे चाहमेव पुष्टो नष्टश्चेत्याद्यनुभवाच्च पुत्र आत्मेति वदति ॥ ३६ ॥

अर्थः—सम्प्रति यह बात विशेष रूप से बतलाई जा रही है कि अमुक-अमुक मतावलम्बी (पूर्वपक्षी) प्रत्यगात्मा में अमुक-अमुक वस्तुओं का आरोप करते हैं।

अत्यन्त स्थूल बुद्धि वाले व्यक्तियों का कहना है कि--"आत्मा ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है" इस श्रुति-वचन से तथा अपने ही समान अपने पुत्र पर (सबका) प्रेम देखे जाने से और पुत्र के पुष्ट होने पर अथवा नष्ट होने पर मैं ही पुष्ट हुआ या नष्ट हुआ—इस तरह की अनुभूति होने से पुत्र ही आत्मा है।

टिप्पणी—इत्यादिश्रुतेः...अनुभवाच्च—प्रत्येक पूर्वपक्षी के मत के समर्थन में एक श्रुति-वचन तथा अनुभव प्रदर्शित किया गया है। पूर्वपक्षी श्रुतियों में विश्वास करता है या नहीं, इस बात की बिना चिन्ता किये ही श्रुति-वचनों का

उद्धरण उस (पूर्वपक्षी) के मत को ठीक रूप से प्रस्तुत करने के लिए किया गया है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि पहले स्थूल मत का निरूपण कर क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम मतों की ओर अग्रसर होंगे। अन्य बातों के अतिरिक्त इस पद्धति से एक काम यह होगा कि प्रत्येक पूर्वपक्षी के मत के खण्डन की आवश्यकता न होगी, क्योंकि आगे-आगे के मत से पूर्व-पूर्व मत स्वयं कटते चले जायेंगे।

'पुत्र ही आत्मा है' इसका उल्लेख करके अब चार्वाकों के 'स्थूल शरीर ही आत्मा है' इस मत का उल्लेख करने जा रहे हैं—

चार्वाकस्तु—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय' इत्यादिश्रुतेः, प्रदीप्तगृहात्स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात्, स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्याद्यनुभवाच्च स्थूलशरीरमात्मेति वदति ॥ ३७ ॥

अर्थः—चार्वाक का कहना है कि—'अन्न के रस (वीर्य) का विकार यह (साक्षात् दृश्यमान) पुरुष ही वह (अर्थात् आत्मा) है' (तै० उप० २।१।१) इस श्रुति से (आग लग जाने पर) जलते हुए घर से अपने पुत्र को भी छोड़कर स्वयं निकल जाने के देखे जाने से तथा 'मैं मोटा हूँ' 'मैं दुर्बल हूँ' इत्यादि अनुभव के होने से भी (यह) स्थूल शरीर ही आत्मा है ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—स्थूलशरीरमात्मा—इससे पुत्र के आत्मत्व का खण्डन करके शरीर के आत्मत्व का प्रतिपादन किया गया है।

अपरश्चार्वाकः—'ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्य ब्रूयुः' इत्यादिश्रुतेरिन्द्रियाणामभावे शरीरचलनाभावात्काणोऽहं बधिरोऽहमित्याद्यनुभवाच्चेन्द्रियाण्यात्मेति वदति ॥ ३८ ॥

अर्थः—दूसरे चार्वाक का कहना है कि—'वे प्राण (अर्थात् इन्द्रियाँ) (अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिए झगड़ते हुए) पिता प्रजापति के पास आकर बोले ('हम लोगों में कौन श्रेष्ठ है ?') (छान्दोग्य ५।१।७) इस श्रुति-वचन से, इन्द्रियों के न रहने पर शरीर की गतिशीलता के न होने से तथा 'मैं काना हूँ' 'मैं बहरा हूँ' इत्यादि अनुभव के होने से भी, 'इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।'

टिप्पणी—अहम्—यहाँ 'अहम्' से आत्मा को निर्दिष्ट किया गया है। 'अहं' का ऐसा ही अर्थ आगे समझाना चाहिए।

इन्द्रियाणि आत्मा—इस मत में शरीर की अपेक्षा इन्द्रियों की श्रेष्ठता के

प्रतिपादन से उस (शरीर) के आत्मत्व का खण्डन कर इन्द्रियों के आत्मत्व का प्रतिपादन किया गया है।

ते ह प्राणा ऊचुः-- इस कथन से इन्द्रियों की चेतनता सूचित की गई है। आत्मा भी चेतन ही होता है।

अपरश्चार्वाकः--'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय' इत्यादिश्रुतेः प्राणाभावे इन्द्रियादिचलनायोगादहमशनायावानहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मेति वदति ॥ ३९ ॥

अर्थः—एक दूसरा चार्वाक कहता है कि—"अन्न-रस के विकार इस शरीर से भिन्न इसके भीतर रहने वाला आत्मा प्राणमय है।" (तैत्ति० उप० २।२।१) इस श्रुति से, प्राणों के अभाव में इन्द्रियों की कार्य में प्रवृत्ति न होने से तथा "मैं भूखा हूँ" "मैं प्यासा हूँ" इत्यादि अनुभव से भी प्राण ही आत्मा है।

अहमशनायावान्--भूख तथा प्यास प्राण के ही धर्म हैं। अन्न एवं जल के अभाव में प्राण का टिकना सम्भव ही नहीं है।

प्राण आत्मा—इस मत में इन्द्रियों के आत्मत्व का खण्डन करके प्राण के आत्मत्व की प्रतिष्ठा की गई है।

अन्यस्तु चार्वाकः--'अन्योऽन्तर अत्मा मनोमय' इत्यादिश्रुतेर्मनसि सुप्ते प्राणादेरभावादहं संकल्पवानहं विकल्पवानित्याद्यनुभवाच्च मन आत्मेति वदति ॥ ४० ॥

अर्थः—एक और दूसरा चार्वाक कहता है कि "प्राणमय आत्मा से भिन्न इसके भीतर रहने वाला आत्मा मनोमय है।" (तैत्ति० उप० २।३।१) इस श्रुति से, (बेहोशी की अवस्था में) मन के सो जाने पर प्राण आदि का अभाव होने से तथा "मैं संकल्प करने वाला हूँ" "मैं विकल्प करने वाला हूँ" इत्यादि अनुभव होने से भी 'मन आत्मा है।'

टिप्पणी—उक्त चारों मत चार प्रकार के चार्वाकों के हैं। चार्वाक भौतिकवादी दृष्टिकोण के होते हैं।

मन आत्मा—यहाँ प्राणों के आत्मत्व का खण्डन कर मन के आत्मत्व का प्रतिपादन किया गया है।

चार्वाकों के मतों का उपस्थापन करके अब विज्ञानवादी बौद्धों के मत की उपस्थापना करने जा रहे हैं—

बौद्धस्तु—'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय' इत्यादिश्रुतेः कर्तुरभावे करणस्य शक्त्यभावादहं कर्त्ताऽहं भोक्तेत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिरात्मेति वदति ॥ ४१ ॥

अर्थः—(विज्ञानवादी) बौद्ध का कहना है कि—"इस मनोमय आत्मा से भिन्न इसके भीतर रहनेवाला आत्मा विज्ञानमय है" (तैत्ति० २।४।१) इस श्रुतिवचन से, कर्त्ता के न रहने पर करण में (कार्य करने की) शक्ति का अभाव होने से तथा "मैं कर्ता हूँ" "मैं भोक्ता हूँ" इत्यादि अनुभवों से "बुद्धि ही आत्मा है।"

टिप्पणी—विज्ञानमय—यहाँ विज्ञान शब्द विज्ञानमय कोश के लिए प्रयुक्त हुआ है। किन्तु बौद्ध उसे क्षणिकविज्ञान (बुद्धि) का वाचक मानकर उक्त श्रुति को अपने मत के समर्थन में प्रयुक्त कर रहा है।

कर्तुरभावे···शक्त्यभावात्—जैसे कर्त्ता कुम्भकार के बिना करणरूप चाक घट-निर्माण में असमर्थ है, उसी प्रकार बुद्धि के बिना मन आदि इन्द्रियाँ भी निरर्थक हैं। बुद्धि ही इन सबकी अधिष्ठात्री है। अतः बुद्धि ही आत्मा है।

प्रभाकरतार्किकौ—तु 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय' इत्यादिश्रुतेर्बुद्ध्यादीनामज्ञाने लयदर्शनादहमज्ञोऽहमज्ञानीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानमात्मेति वदतः । ४१ ॥

अर्थः—प्रभाकर के अनुयायी (मीमांसक) तथा नैयायिक जनों का कहना है कि—"इस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न, इसके भीतर रहने वाला आत्मा आनन्दमय है।" (तैत्ति० २।५।१) इस श्रुति से, (सुषुप्ति की अवस्था में) बुद्धि आदि का अज्ञान में लय देखे जाने से तथा "मैं अज्ञ हूँ" "मैं अज्ञानी हूँ". इत्यादि अनुभवों से "अज्ञान ही आत्मा है।"

टिप्पणी—प्रभाकर—मीमांसा दर्शन के दो दिग्गज आचार्य हो चुके है—(१) कुमारिल भट्ट और (२) प्रभाकर। विचार की दृष्टि से दोनों के सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर है। कुमारिल भट्ट के अनुयायी भाट्ट तथा प्रभाकर के प्राभाकर कहे जाते हैं।

भाट्टस्तु—'प्रज्ञानघन एवानन्दमय' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्मामहं न जानामीत्याद्यनुभवाच्चाज्ञानोपहितं चैतन्यमात्मेति वदति ॥ ४३ ॥

अर्थः--कुमारिल भट्ट के अनुयायी (मीमांसक) का कहना है कि--"(आत्मा) प्रज्ञानघन (अर्थात् ज्ञान की प्रचुरतावाला) तथा आनन्दप्रचुर ही है।" (माण्डूक्य० ५) इस श्रुति से, सुषुप्ति की अवस्था में प्रकाश (ज्ञान) तथा अप्रकाश (अज्ञान)--दोनों--की सत्ता के रहने से तथा "मैं अपने आपको नहीं जानता हूँ" इत्यादि अनुभवों के कारण "अज्ञान से उपहित चैतन्य ही आत्मा है।"

टिप्पणी—प्रज्ञानघन एवानन्दमयः--सुषुप्ति की अवस्था में प्रज्ञान=चैतन्य घनीभूत हो उठता है।

अज्ञानोपहितं चैतन्यम्--कुमारिल भट्ट के मतावलम्बियों का यह मत है कि--आत्मा न तो जड पदार्थ है और न विशुद्धचैतन्य ही। वह (अर्थात् आत्मा) अज्ञोपहित चैतन्य है।

प्रकाशाप्रकाशसद्भावात्--सुषुप्ति की अवस्था में ज्ञान तथा अज्ञान--दोनों की सत्ता रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अच्छी नींद से उठने के बाद अनुभव करता है कि "मैं बड़े आनन्द से सोया, मुझे कुछ भी ज्ञात न था" "मैं बड़े आनंद से सोया"--यह अनुभव सुषुप्ति में ज्ञान की सत्ता के बिना सम्भव नहीं है। "मुझे उस समय कुछ भी ज्ञात न था" इस अनुभूति से सुषुप्ति में अज्ञान की भी सत्ता सूचित होती है।

अब तक बतलाये गये मतो का खण्डन करने वाले माध्यमिकमतावलम्बी शून्यवादी बौद्धों का अनात्मवाद प्रस्तुत किया जा रहा है---

अपरो बौद्धः--'असदेवेदमग्र आसीद्' इत्यादिश्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावादहं सुषुप्तौ नासमित्युत्थितस्य स्वाभावपरामर्शविषयानुभवाच्च शून्यमात्मेति वदति ॥ ४४ ॥

अर्थः--दूसरे (शून्यवादी) बौद्ध का कहना है कि--"पूर्व समय में (अर्थात् नामरूपात्मक इस सृष्टि के पहले) यह जगत् असत् (अर्थात् शून्य) था।" (छान्दो० ६।२।१) इस श्रुति से, सुषुप्ति की अवस्था में (द्रष्टा तथा दृश्य आदि

भाट्ट इति। प्रज्ञानघनः=चैतन्यनिबिडः आनन्दमयः=आनन्दप्रचुरः, "तत्प्रकृतवचने मयट्" (पा० ५।४।२१) इति प्राचुर्ये मयट्, प्रकाशाप्रकाशसद्भावात्=ज्ञानाज्ञानसद्भावात्, अज्ञानोपहितम्--अज्ञानेन=अप्रकाशेन उपहितम्=संवलितम्, एतेन आत्मनो ज्ञानाज्ञानरूपत्वं बोध्यम् ॥

सब कुछ) का अभाव हो जाने से तथा "सुषुप्ति में मैं था ही नहीं"—इस प्रकार सोकर उठे हुए व्यक्ति का अपने ही अभाव को विषय बनानेवाली अनुभूति के होने से शून्य ही आत्मा है।"

टिप्पणी—"असदेवेदमग्र आसीत्"—छान्दोग्योपनिषद् का यह वचन सिद्धान्तपक्ष नहीं अपितु पूर्वपक्ष के रूप में आया है। वहाँ बाद में इसका निषेध कर दिया गया है।

शून्यमात्मेति—माध्यमिकमतानुयायी बौद्धों के अनुसार आत्मा नाम को कोई वस्तु है ही नहीं। उनके अनुसार आत्मा शून्य है।

श्रुति के वचनों, युक्तियों तथा अनुभवों के आधार पर विभिन्न मतों का समुपस्थापन कर अब अन्त में सबका एक साथ ही खण्डन कर रहे हैं—

एतेषां पुत्रादीनामनात्मत्वमुच्यते। एतैरतिप्राकृतादिवादिभिरुक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानामुत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैरात्मत्वबाधदर्शनात्पुत्रादीनामनात्मत्वं स्पष्टमेव ॥ ४५ ॥

अर्थः—(सम्प्रति) इन पुत्र आदि का अनात्मत्व (अर्थात् इनका आत्मा का न होना) बतलाया जा रहा है। इन अति स्थूलमतों का उपस्थापन करने वाले (प्राकृतवादियों) के द्वारा उपस्थापित श्रुति (-वचन), युक्तियाँ तथा अनुभव यथार्थ नहीं, अपितु आभासमात्र हैं। उनमें भी पूर्व-पूर्व वादी के आत्मा के विषय में श्रुति-वचनों, युक्तियों तथा अनुभवों के आभासों का उत्तरोत्तर वादी के श्रुति-वचन, युक्ति और अनुभव के आभासों के द्वारा बाध दिखलाई पड़ने से पुत्र आदि का आत्मा न होना स्पष्ट ही है।

टिप्पणी—पूर्वपूर्वोक्त······अनुभवाभासैः—पीछे उपस्थापित सारे मत अपने से पूर्व उपस्थापित मत का खण्डन करके अपने मत की स्थापना करते हैं; किन्तु वे भी स्वयं आगे के मत से निरस्त हो जाते हैं। अन्तिम शून्यवाद का खण्डन आगे प्रतिपादित वेदान्त के मत से हो जायगा।

पूर्वपक्षी—सभी मत के लोग अपने सिद्धान्त के समर्थन में श्रुतिवचनों, युक्तियों तथा अनुभवों को उपस्थित किये हैं। ऐसी अवस्था में उनके मत का खण्डन कैसे सम्भव हो सकता है ?

सिद्धान्ती—अब तक उपस्थापित किये गये सभी मतों के पक्ष में दी गई

श्रुतियाँ, युक्तियाँ तथा अनुभूतियाँ सही एवं सिद्धान्त-पक्ष न होकर श्रुत्याभास, युक्त्याभास तथा अनुभूत्याभास मात्र हैं दिये गये श्रुतिवचन सिद्धान्त न होकर पूर्वपक्ष हैं, जिनका वहीं खण्डन भी किया गया है। युक्तियाँ तथा अनुभूतियाँ आगे की युक्तियों तथा अनुभूतियों से कट जाने के कारण सिद्धान्त न होकर युक्त्याभास तथा अनुभूत्याभास मात्र हैं। वही युक्ति तथा अनुभूति सिद्धान्त बनती है, जो किसी से कट न सके।

अब आगे पूर्वपक्षियों के उक्त मतों का खण्डन करते हुए वेदान्त के मत से आत्मा का स्वरूप बतला रहे हैं—

किञ्च, प्रत्यगस्थूलोऽचक्षुरप्राणोऽमना अकर्ता चैतन्यं चिन्मात्रं सदित्यादिप्रबलश्रुतिविरोधादस्य पुत्रादिशून्यपर्य्यन्तस्य जडस्य चैतन्य-भास्यत्वेन घटादिवदनित्यत्वादहं ब्रह्मेति विद्वदनुभवप्राबल्याच्च तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधितत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तमखि-लमनात्मैव। अतस्तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः। एवमध्यारोपः ॥४६॥

अर्थः—और 'प्रत्यक' (कठ० २।१।१), अस्थूल' (बृहदा० ३।८।८), 'अचक्षु' (मुण्डक० १।१।६), 'अप्राण' (मुण्डक० २।१।२), 'अमन' (मुंडक० २।१।२), 'अकर्ता' (श्वेताश्वतर १।९), 'चैतन्य' (कैवल्य० २१) 'चिन्मात्र' (कैवल्य० १८) और 'सत्' (छान्दोग्य० ६।२।१) आदि प्रबल श्रुतियों के साथ विरोध होने से पुत्र से लेकर शून्य पर्यन्त ये सभी चैतन्य के द्वारा भासित (प्रकाशित) होने के कारण, घट आदि के समान जड तथा अनित्य हैं-- इस युक्ति से एवं "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार के विद्वानों के अनुभव के प्रबल होने के कारण और उन-उन (पूर्वोक्त) श्रुत्याभासों, युत्याभासों, तथा अनुभवाभासों के (उत्तरोत्तर श्रुत्याभासों, युक्त्याभासों एवं अनुभवाभासों के द्वारा) बाधित हो जाने से भी पुत्र से लेकर शून्य तक के सभी (तत्त्व) आत्मा से अतिरिक्त ही हैं। अतः उन-उन (पुत्र से लेकर शून्यपर्यन्त) को

वेदन्तमते आत्मतत्त्वं प्रतिपादयति—किञ्चेति। चैतन्यभास्यत्वेन=चैतन्य-प्रकाश्यत्वेन, अनेन पुत्रादीनां जाड्यं निर्दिष्टम्। तत्तद्भासकम=पुत्रादीनां प्रकाशकम्। इयताऽध्यारोपप्रक्रिया निर्दिष्टा॥

प्रकाशित करने वाला, नित्य शुद्ध बुद्ध (चैतन्यस्वरूप) मुक्त तथा सत्यस्वभाव-वाला, प्रत्यक् (आन्तरिकतम) चैतन्य ही आत्म-तत्त्व है—ऐसा वेदान्त के विद्वानों का अनुभव है। इस प्रकार अध्यारोप (की प्रक्रिया बतलाई गई) है।

टिप्पणी—प्रत्यक्—प्रत्यक् का अर्थ है सब की अपेक्षा आन्तरिक। अतः बाह्य तत्त्व पुत्र आदि आत्मा नहीं हो सकते। 'अस्थूलः' कहने से वह शरीर आदि भी नहीं है तथा 'अप्राणः' से प्राण के भी आत्मत्व का निषेध हो जाता है।

चिन्मात्रम्—केवल 'चित्' प्रकाश या ज्ञान रूप होने से, भाट्टमतानुयायियों के द्वारा कथित, "प्रकाशाप्रकाश संवलित आत्मा है"—यह मत खण्डित हो जाता है।

चैतन्यभास्यत्वेन—वेदान्तियों का यह मत है कि—संसार के पदार्थ स्वयं प्रकाशमान नहीं हैं। उनके आभास के लिए चैतन्य की अपेक्षा रहती है। चैतन्य उन वस्तुओं का आभासक तथा सारी वस्तुएँ आभास्य हैं। आभासक नित्य तथा आभास्य अनित्य हुआ करते हैं। नित्य तत्त्व ही आत्मा बन सकता है, अनित्य नहीं—यह लेखक का तर्क है। अतः पुत्रादि अनात्म तत्त्व हैं।

अब तक अध्यारोप की प्रक्रिया का निरूपण किया गया, अब अपवाद का स्वरूप तथा उसकी प्रक्रिया का निरूपण करने जा रहे हैं—

अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्। तदुक्तम्—

'सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः' ॥ इति ॥ ४७ ॥

अर्थः—जैसे रज्जु का विवर्त (अर्थात् भ्रान्ति के कारण रस्सी में प्रतीयमान) सर्प रज्जुमात्र ही होता है (न कि रज्जु से भिन्न होता है), उसी प्रकार वस्तु (ब्रह्म) के विवर्त (अर्थात् भ्रान्ति के कारण वस्तुरूप ब्रह्म में प्रतीयमान अवस्तुरूप) अज्ञान आदि प्रपञ्च का वस्तुमात्र रह जाना ही अपवाद है। कहा भी गया है—

अपवादं विवेचयति—अपवादो नामेति। अपवादः=अवस्तुभूतस्य वस्त्वात्मना मानमपवाद इति निगद्यते। रज्जुविवर्तस्य = रज्जौ भ्रान्त्या प्रतीयमानस्येत्यर्थः, रज्जुमात्रत्ववत्=सति यथार्थे ज्ञाने रज्जुमात्रप्रतीतिवत्।

"(किसी वस्तु का) अपने मूल तत्त्व के साथ (अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ) दूसरे रूप में हो जाना विकार कहा गया है; तथा ऊपर से ही, (अर्थात् मिथ्यारूप से ही) अन्य रूप में प्रतीत होना विवर्त कहा गया है।"

टिप्पणी–अपवादः—सावन की अँधेरी रात में व्यक्ति चला जा रहा था। मार्ग में एक रस्सी पड़ी थी। वह उसे सर्प समझ कर चौंका, कूदा और भागने का प्रयास किया। किन्तु सत्य तो यह है कि वहाँ सर्प की सत्ता रस्सी की सत्तामात्र है। रस्सी के अतिरिक्त वहाँ सर्प नाम की कोई भी वस्तु नहीं है। वहाँ रस्सी ही सत्य है, और सर्प असत्य है। असत्य का सत्यमात्र होना ही अपवाद है।

विकारः, विवर्तः—दूध अपने सम्पूर्ण तत्त्व के साथ दही बन जाता है। दूध अपने तत्त्व के साथ दही के रूप में बदल जाता है। अतः दही दूध का विकार है। रस्सी में सर्प की प्रतीति तथा सीपी में चाँदी की प्रतीति विवर्त है। रस्सी न तो अपने मूलरूप के साथ सर्प बनती है और न सीपी ही अपने मूलरूप के साथ चाँदी बनती है ॥ ४७ ॥

अब आगे अपवाद की प्रक्रिया का प्रदर्शन, सृष्टि के विलोम क्रम से, किया जा रहा है—

तथाहि–एतद्भोगायतनं चतुर्विधसकलस्थूलशरीरजातं एतद्भोग्यरूपान्नपानादिकमेतदायतनभूतभूरादिचतुर्दशभुवनान्येतदायतनभूतं ब्रह्माण्डं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपं पञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि शब्दादिविषयसहितानि पञ्चीकृतानि भूतानि सूक्ष्मशरीरजातं चैतत्सर्वमेतेषां कारणरूपापञ्चीकृतभूतमात्रं भवति। एतानि सत्त्वादिगुणसहितान्यपञ्चीकृतान्युत्पत्तिव्युत्क्रमेणैतत्कारणभूताज्ञानोपहितचैतन्यमात्रं भवति। एतदज्ञानोपहितं चैतन्यं चेश्वरादिकमेतदाधारभूतानुपहितचैतन्यरूपं तुरीयं ब्रह्ममात्रं भवति ॥ ४८ ॥

अर्थः—(अपवाद की प्रक्रिया के द्वारा) भोगों के आश्रय चार प्रकार के

तत्त्वतः=सारमादाय वाह्यरूपत इत्यर्थः, अन्यथाप्रथा=अन्यरूपेण भवनमित्यर्थः॥ सृष्टिव्युत्क्रमेणापवादं प्रदर्शयति—तथा हीत्यादिना। भोगातनम्—भोगस्य= सुखदुःखानुभवस्य आयतनम्=आश्रयम्, प्राप्तिसाधनमिति यावत्। उत्पत्तिव्युत्क्रमेण—उत्पत्तेः=सृष्टेः व्युत्क्रमः=विपरीतक्रमस्तेन ॥

ये सम्पूर्ण स्थूल शरीर, इनके भोग्यरूप अन्न-पान आदि, इनके आश्रयभूत 'भू' आदि चौदहों भुवन तथा इनका अधारभूत ब्रह्माण्ड ये सब अपने कारणभूत पञ्चीकृत भूतमात्र रह जाते हैं। शब्द आदि (अपने-अपने) विषयों के सहित पञ्चीकृत महाभूत एवं सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर—यह सब अपने कारणभूत अपञ्चीकृत भूतमात्र रह जाते हैं। सत्त्व आदि गुणों के सहित अपञ्चीकृत ये भूत उत्पत्ति के उल्टे क्रम से इनके कारणरूप (अर्थात् अपने कारणरूप) अज्ञान से उपहित चैतन्यमात्र रह जाते हैं। अज्ञान से उपहित यह ईश्वर आदि चैतन्य अपने आधारभूत अनुपहित चैतन्यरूप केवल तुरीय ब्रह्म हो जाते हैं।

टिप्पणी—भोगायतनम्—भोग अर्थात् सुख-दुःख को भोगने का साधन। ये स्थूल शरीर ही 'सुख-दुःख को भोगने के साधन हैं', अतः इन्हें भोगायतन कहते हैं।

उत्पत्तिव्युत्क्रमेण—आकाश आदि की सृष्टि के विपरीत क्रम से। आकाश आदि भूतों की उत्पत्ति का क्रम पीछे बतलाया जा चुका है। उसका विपरीत क्रम इस प्रकार समझना चाहिए—गन्धतन्मात्रस्वरूपा पृथ्वी रसतन्त्रमात्रात्मक जलमात्र हो जाती है, जल रूपतन्मात्रात्मक तेजोमात्र हो जाता है, तेज स्पर्श-तन्मात्रात्मक वायुमात्र हो जाता है, वायु शब्दतन्मात्रस्वरूप आकाशतन्मात्र हो जाता है और आकाश अपना कारणरूप अज्ञानोपहित चैतन्यमात्र हो जाता है।

अध्यारोप एवं अपवाद की प्रक्रिया का सविस्तर वर्णन कर लेने के बाद अब उसके द्वारा महावाक्यार्थ में आए 'तत्' तथा 'त्वम्' पदों का अर्थ विवृत कर रहे हैं—

आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि-अज्ञानादिसमष्टिरेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतद-नुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्टचैतन्यमेतदनुप-हितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति॥ ४९॥

अर्थः—इन अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा ('तत्त्वमसि' इस महावाक्य

के) 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थों का शोधन (पूर्ण स्पष्टीकरण) भी हो जाता है। वह इस प्रकार है--अज्ञान आदि (अर्थात् अज्ञान, सूक्ष्मशरीर तथा स्थूल शरीर) की समष्टि, (अज्ञान आदि की) इस समष्टि से उपहित सर्वज्ञता आदि से विशिष्ट (ईश्वर, हिरण्यगर्भ आदि नामक) चैतन्य, तथा इनसे अनुपहित चैतन्य---ये तीनों जब तपे हुए लोह-पिण्ड की भाँति अभिन्नरूप से प्रतीत होते हैं, तब 'तत्' पद के वाच्यार्थ होते हैं। इन उपाधियों और इनसे उपहित चैतन्य का अधारभूत जो अनुपहित, चैतन्य है, वह 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

अज्ञान आदि (अर्थात् अज्ञान, सूक्ष्मशरीर तथा स्थूलशरीर) की व्यष्टि, इस व्यष्टि से उपहित, अल्पज्ञता आदि से विशिष्ट, ('प्राज्ञ' 'तैजस' तथा 'विश्व', नामवाला) चैतन्य तथा इनसे अनुपहित चैतन्य---ये तीनों, तपे हुए लौहपिण्ड) के समान जब अभिन्न प्रतीत होते हैं तब, 'त्वम्' इस पद के वाच्य अर्थ होते हैं और इन उपाधियों तथा इन उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य का आधार भूत जो 'अनुपहित' सर्वाधिक आन्तरिक तत्त्व, आनन्दरूप, तुरीय चैतन्य है, वह 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

टिप्पणी--वाक्यार्थों लक्ष्यार्थों--शब्द की तीनों शक्तियों—अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना—का विवेचन पीछे कर चुका हूँ। 'तप्तायःपिण्ड' के वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ का विवरण भी पेश किया जा चुका है। अब यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ का दिग्दर्शनमात्र करा दे रहा हूँ—

जब लौहपिण्ड तथा दाह के कारण अग्नि में अभेद मान कर 'अयःपिण्डं दहति' इस वाक्य का प्रयोग किया जाता है, तब बोद्धा को लौहपिण्ड तथा दाह के कारण अग्नि दोनों का ही बोध अभिधा शक्ति से हो जाता है क्योंकि उस समय लोह-पिण्ड तथा अग्नि में बोद्धा को अभेद-प्रतीति होती है। इसी प्रकार जब अज्ञान आदि की समष्टि तथा इस समष्टि से उपहित चैतन्य तथा इनका आधारभूत अनुपहित चैतन्य---ये तीनों अभिन्न प्रतीत हों तब ये 'तद्' पद के वाच्यार्थ होते हैं। किन्तु 'अयःपिण्डं दहति' यह सुनने पर जब लौह-पिण्ड की दाहकता अनुपपन्न प्रतीत होती है तब उसमें वर्तमान अग्नि ही दाह का हेतु है--ऐसा प्रतीत होता है। वैसी स्थिति में लक्षणा के द्वारा इस वाक्य का

अर्थ होता है--लोह-पिण्ड में संक्रान्त अग्नि जला रहा है। इसी प्रकार आधार-भूत अनुपहित चैतन्य जब उपाधियों तथा उन उपाधियों से उपहित चैतन्य से भिन्न प्रतीत हो तो वह 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ होता है। इसी प्रकार त्वम्' पद के वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ की स्थिति भी समझनी चाहिये।

अब 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थ को स्पष्ट करने जा रहे हैं--

अथ महावाक्यार्थो वर्ण्यते। इदं "तत्त्वमसि" इति वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयोः सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावः, प्रत्यगात्मपदार्थयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति। तदुक्तम्—

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥ इति ॥५०॥

अर्थः—अब महावाक्य के अर्थ का वर्णन किया जा रहा है। यह'तत्त्वमसि' ='वही तुम हो' (छान्दो० ६।८।७) वाक्य तीन सम्बन्धों के द्वारा अखण्ड अर्थ (अर्थात् निरुपाधि ब्रह्म) का बोधक होता है। तीन सम्बन्ध हैं--(१) दोनों (अर्थात् 'तत्' एवं 'त्वम्') पदों का सामानाधिकरण्य, (२) तीनों पदों के अर्थों में विशेषण-विशेष्य-भाव का होना, तथा (३) प्रत्यगात्मा तथा दोनों पदों के वाच्यार्थ में लक्ष्य-लक्षण-भाव। ऐसा ही (आचार्य सुरेश्वर के द्वारा भी) कहा गया है—

"('तत्त्वमसि' इस महावाक्य के) पदों में, उन पदों के वाच्य अर्थों में तथा उन पदों के वाच्य अर्थों एवं प्रत्यागात्मा में क्रमशः सामानाधिकरण्य विशेषण-विशेष्य भाव और लक्ष्य-लक्षण-सम्बन्ध है।" (नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३) ॥ ५० ॥

टिप्पणी—महवाक्यार्थः—महावाक्यों की गणना कहीं-कहीं बारह की जाती है ओर कहीं-कहीं चार। किन्तु प्रमुख रूप से चार ही महावाक्यों का वर्णन मिलता है। ये महावाक्य हैं--(१) प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० आ० ५।३), (२)

वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणमिति पूर्वं पदार्थं निरूप्याधुना उपदेशमहावाक्यार्थो वर्ण्यते–अथेत्यादिना। अखण्डार्थबोधकम्–अखण्डश्चासौ अर्थश्चेति अखण्डार्थः=सजातीयविजातीयस्वगतादिभेदरहितं निर्गुणं ब्रह्म तस्य बोधकम्= ज्ञापकम्। सामानाधिकरण्यम्-समानविभक्त्यन्तयोः पदयोरेकस्मिन्नर्थे तात्पर्यं सामानाधिकरण्यम्॥

अहं ब्रह्मास्मि (बृहदा० १।४।१०), (३) तत्त्वमसि (छान्दोग्य० ६।८।७) तथा (४) अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य० २)। इन महावाक्यों के आकर ग्रन्थ क्रमशः चारों वेदों से सम्बद्ध हैं।

अखण्डार्थः--'अखण्डार्थ' का अर्थ है--वह निर्गुण ब्रह्म जिसमें किसी भी दशा में अशांशि भाव आदि सम्बन्ध उठ ही नहीं सकते हैं।

सामानाधिकरण्यम्--समान विभक्तिवाले दो पदों का एक ही अर्थ में तात्पर्य का होना सामानाधिकरण्य कहलाता है।

अब यहां सामानाधिकरण्य सम्बन्ध के विषय में सोदाहरण बतलाया जा रहा है--

सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद् यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायंशब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्धः। तथा च 'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यावाचकत्वम्पदस्य चैकस्मिँश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः ॥५१॥

अर्थः--सर्वप्रथम सामानाधिकरण्य सम्बन्ध को बतला रहे हैं; जैसे-"सोऽयं देवदत्तः"="वही यह देवदत्त है" इस वाक्य में तत्काल से विशिष्ट (अर्थात् अतीत काल वाले) देवदत्त के वाचक 'सः' शब्द का और एतत्काल से विशिष्ट (अर्थात् इस काल वाले) देवदत्त के वाचक 'अयं' शब्द का एक ही पिण्ड (अर्थात् देवदत्तरूप व्यक्ति) में तात्पर्य का होना सामानाधिकरण्य है। उसी प्रकार यहाँ "तत्त्वमसि"="वही तुम हो" इस वाक्य में भी परोक्षत्व आदि से विशिष्टचैतन्य के वाचक 'तत्' पद का और अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य के वाचक 'त्वम्' पद का एक ही चैतन्य में तात्पर्य का होना सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धः-विशेषणविशेष्यभावस्तु वक्तुरिच्छाधीनः। यथा 'सोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये यदा अयं पदार्थः यः एतत्कालैतद्देशसम्बन्धविशिष्टः देवदत्तः सः शब्दवाच्यात् तत्कालतद्देशविशिष्टदेवदत्तात् भिन्नो नेति ज्ञानं जायते तदाऽयमित्यस्य पदार्थभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वं बोध्यम्। व्यावर्त्यत्वादयं पदार्थस्य विशेष्यत्वम्। इत्थमेव 'अयं स देवदत्तः' इति वाक्ये सः पदवाच्योऽर्थो विशेष्यस्तथाऽयं पदवाच्यो विशेषणः। इयमेव प्रक्रिया 'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽप्यवलम्बनीया॥

टिप्पणी—सोऽयं देवदत्तः—देवदत्त हाईस्कूल में मेरा साथी था। पर्याप्त समय के व्यवधान के बाद बाजार में वह दिखलाई पड़ा। मैंने कहा—"अरे यह तो वही देवदत्त है, जिसने मेरे साथ हाईस्कूल में पढ़ा था।" 'सः' और 'अयं'—ये दोनों ही पद प्रथमा के एक वचन में होने के कारण समान विभक्ति वाले हैं। दोनों पदों का एक ही देवदत्त रूप अर्थ में तात्पर्य है। अतः यहाँ इन दोनों पदों में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

"तत्त्वमसि"—इसी प्रकार 'तत्+त्वम्+असि' इस वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ है—परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' पद का अर्थ है—अपरोक्षत्व, अल्पज्ञत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य। 'तत्' और 'त्वम्'—ये दोनों ही पद प्रथमा के एक वचन में होने के कारण समान विभक्ति वाले हैं। समान विभक्ति वाले इन दोनों ही पदों का एक ही 'चैतन्य' रूप अर्थ में तात्पर्य सम्बन्ध है। अतः यहाँ भी इन दोनों पदों में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है।

परोक्षत्वादिविशिष्ट—ईश्वर हमारी दृष्टि से परे होने के कारण अनुमान आदि से ज्ञातव्य है। अतः उसे परोक्षत्व आदि से विशिष्ट=युक्त कहा गया है। आदि से ईश्वर में सर्वज्ञत्व तथा सर्वनियन्तृत्व आदि को भी समझना चाहिए।

अपरोक्षत्वादिविशिष्ट—प्रत्येक जीव अपने को बिना किसी अन्य की अपेक्षा स्वयं अनुभव करता है। अतः अपरोक्षत्व आदि से उसे विशिष्ट कहा गया है। आदि पद से जीव को अल्पज्ञत्व तथा अनीश्वरत्व आदि से विशिष्ट समझना चाहिए।

सामानाधिकरण्य सम्बन्ध प्रदर्शित कर लेने के बाद अब 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ में विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध प्रदर्शित करने जा रहे हैं—

विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायंशब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वंपदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः॥ ५२॥

अर्थः—विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध तो उसे कहते हैं, जैसे उसी 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्य में 'सः' शब्द के वाच्य अर्थ तत्काल-विशिष्ट (अर्थात् उस समय वाले) देवदत्त का तथा 'अयं' शब्द के वाच्य अर्थ एतत्कालविशिष्ट

(अर्थात् वर्तमानकालिक) देवदत्त का, परस्पर भेद (तत्काविशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्व) का निवारक होने के कारण, विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध है। ठीक उसी तरह यहाँ भी 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' पद के अर्थ परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य का तथा 'त्वम्' पद के अर्थ अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य का, परस्पर भेद (परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादि-विशिष्टत्व) का निवारक होने के कारण विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है।

टिप्पणी—अन्योन्यभेदव्यावर्तकतया—विशेषण-विशेष्यभाव का नियामक वक्ता की इच्छा होती है। 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'सः' पद का अर्थ है 'उस काल और उस देश में रहने वाला देवदत्त' और 'अयम्' पद का अर्थ है 'इस काल और इस देश में रहने वाला देवदत्त'। जब 'सः' शब्द का वाच्यार्थ बनने वाला 'उस काल और उस देश में रहनेवाला देवदत्त, 'अयं' शब्द का वाच्यार्थ बनने वाले 'इस काल और इस देश में रहने वाले देवदत्त' से अभिन्न प्रतीत होता है, तब 'सः' शब्द का वाच्यार्थ 'अयं' शब्द के वाच्यार्थ में स्थित भेद का व्यावर्तक बनता है। व्यावर्तक विशेषण को कहते हैं। ऐसी अवस्था में 'अयं' शब्द का वाच्यार्थ विशेष्य बनता है। इसी तरह जब 'अयं' पद के वाच्यार्थ को विशेषण तथा 'सः' शब्द के वाच्यार्थ को विशेष्य बनना होता है तब "अयं सः देवदत्तः" ऐसा प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार दोनों पदों के वाच्यार्थ परस्पर विशेषण और विशेष्य बनते हैं।

तत्त्वमसि—इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'तत्' पद का अर्थ तथा 'त्वम्' पद का अर्थ भी परस्पर विशेषण और विशेष्य बनता है।

विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध दिखला लेने के बाद अब लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध बतला रहे हैं—

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु-यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते॥ ५३॥

अर्थः—लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध को बतला रहे हैं—जैसे उसी 'सोऽयं

देवदत्तः' वाक्य में 'सः' शब्द और 'अयं' शब्दों का अथवा 'सः' शब्द के अर्थ एवं 'अयं' शब्द के अर्थों का 'तत्कालविशिष्टत्व'='उस काल में रहने वाले' और 'एतत्कालविशिष्टत्व'='इस काल मे रहने वाले'—इस (परस्पर) विरुद्ध अंश का परित्याग करके अविरुद्ध देवदत्त के साथ लक्ष्य-लक्षण भाव है। ठीक उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का अथवा 'तत्' पद के अर्थ एवं 'त्वम्' पद के अर्थ का (परस्पर) परोक्षत्वादिविशिष्टत्व= इन्द्रियों का विषय आदि न बनने वाले एवं अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व=अनुभूति आदि का विषय बनने वाले इस विरुद्ध अंश का परित्याग करके (दोनों पदों के) अविरुद्ध अर्थ चैतन्य के साथ लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध है। इसी लक्षणा को भागलक्षणा (अथवा जहदजहल्लक्षणा) कहते हैं।

टिप्पणी—लक्षणा—लक्षणावृत्तिका सामान्य विवेचन खण्ड १५ की व्याख्या में हो चुका है। सुगमता के लिये अब यहाँ उसके भेदों का निर्देश किया जा रहा है। लक्षणा के तीन भेद होते हैं—(१) जहल्लक्षणा (२) अजहल्लक्षणा और (३) जहदजहल्लक्षणा।

१—जहल्लक्षणा—वाच्य अर्थ का पूर्णरूप से त्याग करके वाच्य अर्थ से सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति का नाम है जहल्लक्षणा। जहत् = अपने वाच्य अर्थ को छोड़ती हुई, लक्षणा=अन्य सम्बद्ध अर्थ को लक्षित कराने वाली। जैसे 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में गंगा पद अपने वाच्य अर्थ गंगा-प्रवाह का परित्याग करके उससे सम्बद्ध अर्थ गंगातीर का बोध कराता है।

२—अजहल्लक्षणा—वाच्यार्थ का परित्याग बिना किये हुए वाच्य अर्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति अजहल्लक्षणा कहलाती है। अजहत्= अपने वाच्य अर्थ को न छोड़ती हुई, लक्षणा=अन्य सम्बद्ध अर्थ को लक्षित कराने वाली। जैसे—'शोणो धावति'। 'शोणो धावति' का अर्थ है=लालरंग दौड़ रहा है। लालरंग का दौड़ना अनुपपन्न है। अतः 'शोण' का अर्थ होता है 'लाल रंग का अश्व' धावति=दौड़ रहा है। यहाँ 'शोण' शब्द अपने वाच्य अर्थ 'लालरंग' के साथ ही उससे सम्बद्ध अर्थात् लालरंग वाले अश्व का लक्षणा-वृत्ति से बोध कराता है। इस प्रकार यहाँ अजहल्लक्षणा वृत्ति है।

जहद्जहल्लक्षणा—वाच्य अर्थ के एक भाग को छोड़ कर बाकी भाग का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। जहत्=वाच्य अर्थ के एक भाग को छोड़ती हुई तथा अजहत्=वाच्य अर्थ के दूसरे भाग को न छोड़ती हुई, लक्षणा=अन्य सम्बद्ध अर्थ को लक्षित कराने वाली वृत्ति। एक भाग का परित्याग कर शेष भागमात्र का ग्रहण करने से इसे भागलक्षणा भी कहते हैं। 'सोऽयं देवदत्तः' तथा 'तत्त्वमसि' इस लक्षणा के उदाहरण हैं।

'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य में भी सामानाधिकरण्य और विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है। पर यहाँ अभिधा से ही अर्थ बोध हो जाता है, लक्षणा की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। इसी तरह 'सोऽयं देवदत्तः' तथा 'नीलमुत्पलम्' में भी अभिधा से ही क्यों नहीं अर्थ बोध हो जाता? इसी शंका के निराकरण में बतला रहे हैं—

अस्मिन् वाक्ये नीलमुत्पलमिति वाक्यवद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तत्र तु नीलपदार्थनीलगुणस्योत्पलपदार्थोत्पलद्रव्यस्य च शौक्ल्यपटादिभेदव्यावर्तकतयाऽन्योन्यविशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य वा वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रमाणान्तरविरोधाभावात्तद्वाक्यार्थः सङ्गच्छते, अत्र तु तदर्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वमर्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावसंसर्गस्यान्यतरविशिष्टस्यान्यतरस्य तदैक्यस्य च वाक्यार्थत्वाङ्गीकारे प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाद्वाक्यार्थो न सङ्गच्छते। तदुक्तम्—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः॥ इति॥ ५४॥

अर्थः—('तत्त्वमसि') इस वाक्य में 'नीलमुत्पलम्'='नीला कमल' इस वाक्य की तरह वाच्य अर्थ (अभिधेय अर्थ) संगत नहीं हो सकता है। यहाँ 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य में वाच्य अर्थ इस लिये संगत होता है, क्योंकि (इस वाक्य में प्रयुक्त) नील पद का अर्थ नील गुण शुक्लता आदि अन्य गुणों का व्यावर्तक (निवारक), और उत्पल पद का अर्थ उत्पल रूप द्रव्य (वस्तु) पट आदि का व्यावर्तक है। अतः (उन दोनों पदों के) परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव संसर्ग को अथवा एक से विशिष्ट दूसरे पद के अर्थ को

अथवा उन दोनों की एकता को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार करने पर किसी दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता है। किन्तु यहाँ 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' का अर्थभूत परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' का अर्थभूत अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य पारस्परिक भेद का व्यावर्तक (निवारक) है; अतः यहाँ विशेषण-विशेष्य भावरूप संसर्ग को, अथवा एक से विशिष्ट दूसरे पदार्थ को अथवा दोनों पदार्थों की एकता को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार करने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध होने के कारण वाक्य का अर्थ (वाच्यार्थ) ठीक-ठीक नहीं बैठता है। यही विद्यारण्यस्वामी के द्वारा कहा भी गया है—

अन्वयः—अत्र, संसर्गः, वा, विशिष्टः, वा, वाक्यार्थः, न, सम्मतः, (किन्तु, अत्र), अखण्डैकरसत्वेन, वाक्यार्थः, विदुषाम्, मतः ॥

शब्दार्थः—अत्र=(तत्त्वमसि) इस वाक्य में, संसर्गः=भेद संसर्गस्वरूप, वा=अथवा, विशिष्टः=एक से विशिष्ट एक (अर्थात् अभेद संसर्गरूप), वा= भी, वाक्यार्थः=वाक्यार्थ, न=नहीं, सम्मतः=अभीष्ट है; (किन्तु=परन्तु, अत्र=यहाँ, तत्त्वमसि इस वाक्य में), अखण्डैकरसत्वेन=अखण्ड एकरस रूप में (अर्थात् स्वगत आदि भेद से रहित वस्तुमात्र के रूप में), वाक्यार्थः=वाच्यार्थ, विदुषाम्=विद्वानों को, मतः=अभीष्ट है ॥

अर्थः—(तत्त्वमसि) इस वाक्य में भेद-संसर्गरूप अथवा अभेदसंसर्गरूप वाक्यार्थ नहीं अभीष्ट है; (किन्तु यहाँ तत्त्वमसि इस वाक्य में) अखण्ड एक रसरूप में (अर्थात् स्वगत आदि भेद से रहित वस्तुमात्र के रूप में) वाच्यार्थ विद्वानों को अभीष्ट है (पञ्चदशी ७।७५) ॥

टिप्पणी—वाक्यार्थः—यहाँ वाक्यार्थ शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ के अर्थ में हुआ है।

नीलमुत्पलमिति...न सङ्गच्छते—'तत्त्वमसि' वाक्य के 'तत्' एवं 'त्वम्' इन पदों से एक अखण्ड अर्थ की प्रतीति होनी आवश्यक है। किन्तु अखण्डार्थ की यह प्रतीति अभिधा वृत्ति संभव नहीं है, क्योंकि 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थों में पूर्ण साम्य नहीं है। अतः अखण्ड अर्थ के बोध के लिये 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में लक्षणा-वृत्ति का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु, 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य में अखण्ड अर्थ की प्रतीति अभिप्रेत नहीं है। इस वाक्य में नील पद का वाच्य अर्थ है नील गुण और उत्पल पद का वाच्य अर्थ है उत्पल द्रव्य। नील

गुण उत्पल द्रव्य में श्वेत, रक्त आदि गुणों का व्यावर्तक है और उत्पल द्रव्य घट, पट, आदि द्रयों का व्यावर्तन करता है। अतः यहाँ परस्पर गुण-गुणि भाव सम्बन्ध होने के कारण कोई विरोध नहीं होता है। अतः इसका विविध वाक्यार्थों में कोई भी एक वाक्यार्थ माना जा सकता है। ये विविध वाक्यार्थ इस प्रकार हो सकते हैं—

(१) (नील एवं उत्पल रूप) दोनों पदों के वाच्य अर्थों का परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध।

(२) एक से विशिष्ट दूसरा पदार्थ, जैसे - 'नीलत्वविशिष्टमुत्पलम्' अथवा 'उत्पलत्वविशिष्टं नीलम्'।

(३) दोनों पदार्थों का ऐक्य (अर्थात् अभेद), जैसे—'नीलाभिन्नमुत्पलम्' अथवा 'उत्पलाभिन्नं नीलम्'।

'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य के उक्त तीनों ही अर्थ किये जा सकते हैं। ऐसा करने में किसी प्रकार का विरोध भी नहीं होगा। किन्तु 'तत्त्वमसि' इस वक्य में इस प्रक्रिया का आश्रय लेने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में विरोध होगा। जीव एवं ब्रह्म की एकता प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा तर्क से सर्वथा अनुपपन्न है। एक (जीव) प्रत्यक्ष है और दूसरा (ईश्वर) परोक्ष, एक (जीव) अल्पज्ञ है और दूसरा (ईश्वर) सर्वज्ञ, आदि। अतः 'नीलमुत्पलम्' इस वाक्य की भाँति 'तत्त्वमसि' का अर्थ अभिधा वृत्ति के आश्रयण से नहीं निकल सकता। अतः इसके लिये लक्षणावृत्ति का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

संसर्ग:—वाक्य में प्रयुक्त पदों को आपस में जोड़नेवाले कारक या विभक्तियाँ जो सम्बन्ध प्रकट करती हैं उसे संसर्ग कहते हैं। यह संसर्ग दो प्रकार का होता है—(१) भेदरूप संसर्ग (२) अभेदरूप संसर्ग।

भेदरूप संसर्ग- जहाँ एक वाक्य में प्रयुक्त पदों का परस्पर सम्बन्ध विभिन्न विभक्तियों के द्वारा प्रकट किया जाता है, वहाँ भेदरूप संसर्ग होता है। ऐसे स्थल पर सामानाधिकरण्य का अभाव होता है। जैसे 'दण्डेन घटं निर्माति' (दण्ड से घट बना रहा है) यहाँ पर दण्ड और घट में भिन्न-भिन्न विभक्तियों के सम्बन्ध से सामानाधिकरण्य नहीं है।

अभेद संसर्ग—जहाँ वाक्य में प्रयुक्त पद समान विभक्तियों के द्वारा परस्पर

अन्वित होते हैं, वहाँ अभेद संसर्ग होता है। पदों में समान विभक्तियों के होने से ऐसे स्थलों पर सामानाधिकरण्य हुआ करता है। अभेद संसर्ग के स्थल पर प्रायः विशेष्य-विशेषण भाव पाया जाता है।

'नीलमुत्पलं' की भाँति 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भी, पदों के समानविभक्तिक होने के कारण अर्थात् सामानाधिकरण्य के कारण, संसर्ग के इसी दूसरे भेद के अन्तर्गत आते हैं। अतः इन वाक्यों में भी अभेद संसर्ग ही होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि 'नीलमुत्पलं' तथा 'तत्त्वमसि'—इन दोनों के वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया में अन्तर है। 'नीलमुत्पलं' इस वाक्य में 'नील' पद नील गुण का तथा 'उत्पलं' पद उत्पल द्रव्य का वाचक है। अतः यहां पदों में गुण-गुणि-भाव या विशेष्य-विशेषण भाव मानने में कोई कठिनाई नहीं होती है। पर 'तत्त्व-मसि' इस वाक्य में 'तत्' एवं 'त्व' इन दोनों पदों के अर्थों के द्रव्यरूप होने के कारण तथा परस्पर विरुद्ध होने के कारण भी अभेद-संसर्ग रूप वाच्यार्थ वाधित हो जाता है। अतः वहाँ लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। इसी बात को पञ्च-दशी के 'संसर्गो वा विशिष्टो वा' इस श्लोक में निर्दिष्ट किया गया है।

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ-ज्ञान अभिधा से नहीं हो सकता, उसके लिए लक्षणा का आश्रय लेना ही पड़ेगा। पहले लक्षणा के तीन भेद बतलाये गये हैं। उनमें भागलक्षणा (जहदजहल्लक्षणा) से ही अर्थ-ज्ञान सम्भव है—यह बतलाने के पूर्व पहले जहल्लक्षणा से इसके अर्थ ज्ञान होने का खण्डन करने जा रहे हैं—

अत्र 'गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इति वाक्यवज्जहल्लक्षणापि न सङ्गच्छते। तत्र तु गङ्गाघोषयोराधाराधेयभावलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशेषतो विरुद्धत्वाद्वाक्यार्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धितीरलक्षणाया युक्तत्वाज्जहल्लक्षणा सङ्गच्छते। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्ट-चैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य भागमात्रे विरोधाद्भागान्तरमपि परित्यज्यान्यलक्षणाया अयुक्तत्वाज्जहल्लक्षणा न सङ्गच्छते।

न च गङ्गापदं स्वार्थपरित्यागेन तीरपदार्थं यथा लक्षयति तथा तत्पदं त्वम्पदं वा स्वार्थपरित्यागेन त्वम्पदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः

कुतो जहल्लक्षणा न संगच्छत इति वाच्यम्। तत्र तीरपदाश्रवणेन तदर्थाप्रतीतौ लक्षणया तत्प्रतीत्यपेक्षायामपि तत्त्वंपदयोः श्रूयमाणत्वेन तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनरन्यतरपदेनान्यतरपदार्थप्रतीत्यपेक्षाभावात् ॥ ५५ ॥

अर्थः—यहाँ ('तत्त्वमसि' इस वाक्य में) 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' (गंगा में अहीरों की बस्ती है) इस वाक्य की तरह जहल्लक्षणा भी संगत नहीं हो सकती। वहाँ (अर्थात् 'गंगायां घोषः प्रतिवसति' इस वाक्य में) तो गंगा (की धारा) और अहीरों का गाँव रूप जो वाक्यार्थ (मुख्यार्थ) है, उसके पूर्णतः विरुद्ध होने के कारण, (क्योंकि गंगा की धारा में गांव का होना पूर्णतः असगत है), (वाच्यार्थ) को पूर्णरूप से छोड़कर उस (गङ्गा-प्रवाह) से सम्बद्ध गङ्गातीर में लक्षणा करना उचित होने से जहल्लक्षणा संगत होती है। किन्तु यहां ('तत्त्वमसि' इस वाक्य में) तो परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य एवं अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य की एकरूपता वाक्यार्थ के केवल एक अंश में ही विरोध है। अतः यह उचित नहीं है कि अविरुद्ध अंश को भी छोड़कर यहाँ सर्वथा भिन्न अर्थ में लक्षणा की जाय। इसलिए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में जहल्लक्षणा नहीं संगत हो सकती है।

पूर्वपक्षी—जिस प्रकार 'गङ्गा' पद अपने वाच्य अर्थ (गङ्गा-प्रवाह) का परित्याग करके लक्षणा के द्वारा तीर पद के वाच्यार्थ (तट) का बोध कराता है, उसी प्रकार 'तत्' पद अपने वाच्य अर्थ का परित्याग करके 'त्वं' पद के अर्थ को और 'त्वं' पद अपने वाच्य अर्थ का परित्याग करके 'तत्' पद के अर्थ (अर्थात् वाच्यार्थ) को लक्षणा के द्वारा बोधित करावे तो जहल्लक्षणा क्यों नहीं संगत हो सकती है? (अर्थात् तब तो जहल्लक्षणा सङ्गत ही हो जायगी।

तत्त्वमसीति वाक्यार्थबोधे जहल्लक्षणामपाकर्तुमुपक्रमते। अत्रेत्यादिना—अत्र='तत्त्वमसि' इति वाक्ये, जहल्लक्षणा—वाच्यमर्थमशेषतः परित्यज्य तत्सम्बन्धिनि अर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा। तत्र='गङ्गायां घोषः प्रतिवसति' इति वाक्ये, वाक्यार्थस्य=आधारभूतस्य गङ्गाप्रवाहस्य तथा आधेयभूतस्य घोषस्य वास इति वाक्यार्थस्येत्यर्थः। श्रूयमाणत्वेन···अपेक्षाभावात्—श्रुते शब्दे मुख्यार्थबाध एव लक्षणायाः प्रवृत्तिर्भवतीति सिद्धान्तः, तत्त्वमसीति वाक्ये तु पदश्रवणानन्तरमेव पदार्थप्रतीतिर्जायतेऽतो नावसरो लक्षणाया इत्यभिप्रायः॥

सिद्धान्ती—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में तीर पद सुनाई नहीं पड़ता। अतः तीरपद के अर्थ की भी प्रतीति नहीं होती। इसलिए लक्षणा के द्वारा तीरपद के अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा रहती है। (यही कारण है कि वहाँ जहल्लक्षणा होती है।) किन्तु यहाँ ('सत्त्वमसि' इस वाक्य में) 'तत्' एवं 'त्वं' पदों के सुनाई पड़ने से उनके अर्थों की भी प्रतीति होती ही है। अतः फिर से लक्षणा के द्वारा ('तत्' एवं 'त्वं' इन दोनों में किसी) एक पद से किसी दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा ही नहीं रहती। (अतः 'गंगायां घोषः' की भांति 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में जहल्लक्षणा हो ही नहीं सकती)।

टिप्पणी—लक्षणा सङ्गच्छते—सुने गये वाक्य के मुख्य अर्थ के असंगत प्रतीत होनेपर मुख्य अर्थ से ही सम्बद्ध, वाक्य के पदों के द्वारा न सुनाई पड़नेवाले, पदार्थ में लक्षणा होती है—यह सिद्धान्त है। 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में 'गंगा की धारा में अहीरों का गाँव है' यह कहा गया है। यहाँ गंगा की धारा आधार है और घोष आधेय है। अतः मुख्य अर्थ यहाँ असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि जलकी धारा में गाँव का होना युक्तियुक्त नहीं है। अतः गंगा पद की गंगा-तट में लक्षणा की जाती है। तब अर्थ होता है—गंगा के एकदम तट पर ही अहीरों का गाँव है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि लक्षणा से उपस्थित होने वाला गंगातट रूप अर्थ वाक्य के किसी पद से उपस्थित नहीं है। अतः वहाँ जहल्लक्षणा सम्भव है।

किन्तु 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ है—'परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' और 'त्वं' पद का अर्थ है—'अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य' इन दोनों पदों से उपस्थापित अर्थों में पूर्णतः विरोध न होने से यहाँ लक्षणा नहीं हो सकती। एक पद से दूसरे पद के अर्थ का भी लक्षणा के द्वारा बोध नहीं कराया जा सकता, क्योंकि जब कोई शब्द अपनी अभिधा शक्ति से अर्थ का बोध कराकर चरितार्थ हो जाता है, तब उसमें लक्षणा या व्यञ्जना के द्वारा किसी अन्य अर्थ के बोध कराने की क्षमता समाप्त हो जाती है।

'तत्त्वमसि' के अर्थ-ज्ञान में जहल्लक्षणा की असंगति दिखला कर अब अजहल्लक्षणा की भी असंगति का प्रदर्शन किया जा रहा है—

अत्र 'शोणो धावति' इति वाक्यवदजहल्लक्षणापि न सम्भवति। तत्र शोणगुणगमनलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तदाश्रयाश्वादिलक्षणया तद्विरोधपरिहारसम्भवादजहल्लक्षणा सम्भवति। अत्र तु परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विरुद्धत्वात्तदपरित्यागेन तत्सम्बन्धिनो यस्य कस्यचिदर्थस्य लक्षितत्वेऽपि तद्विरोधपरिहारासम्भवादजहल्लक्षणा न सम्भवत्येव।

न च तत्पदं वा स्वार्थविरुद्धांशपरित्यागेनांशान्तरसहितं त्वंपदार्थं तत्पदार्थं वा लक्षयत्वतः कथं प्रकारान्तरेण भागलक्षणाङ्गीकरणमिति वाच्यम्। एकेन पदेन स्वार्थांशपदार्थान्तरोभयलक्षणाया असम्भवात्पदान्तरेण तदर्थप्रतीतौ लक्षणया पुनस्तत्प्रतीत्यपेक्षाभावाच्च ॥ ५६ ॥

अर्थः—यहाँ ('तत्त्वमसि' इस वाक्य में 'शोणो धावति' (अर्थात् 'लालरंग दौड़ रहा है') इस वाक्य की तरह अजहल्लक्षणा भी सम्भव नहीं है। क्योंकि वहाँ (अर्थात् 'शोणो धावति' इस वाक्य में) लालगुण का गमनरूप जो वाच्य अर्थ है, उसके विरुद्ध होने के कारण उस (लालगुण) को न छोड़ते हुए उस (लालगुण) के आश्रय अश्व आदि का लक्षणा के द्वारा बोध कराने पर (दोनों पदों के) उस विरोध का परिहार सम्भव हो जाता है। (अतः वहाँ अजहल्लक्षणा के द्वारा 'लालगुण वाला अश्व दौड़ रहा है' यह अर्थ किया जाता है)।

किन्तु यहाँ ('तत्त्वमसि' इस वाक्य में) परोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य तथा अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य का एकतारूप जो मुख्यार्थ (अर्थात् वाच्य अर्थ) है, उसके विरुद्ध होने के कारण उस (मुख्य अर्थ) को न छोड़ते हुए उस (मुख्यार्थ) से सम्बद्ध जिस-किसी अर्थ के लक्षणा के द्वारा बोधित कराने पर भी उस विरोध के परिहार के सम्भव न होने से अजहल्लक्षणा सम्भव ही नहीं हो सकती है।

युक्त्यन्तरेण प्राप्तामजहल्लक्षणां खण्डयति—उभयलक्षणाया असम्भवात्—पदश्रवणानन्तरं समुपस्थिते विरोधे अविरुद्धेऽर्थे लक्षणया लक्षिते सति पुनर्लक्षणया पदार्थान्तरस्य बोधनमसम्भवमेव 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति न्यायात्। एकेन पदेन युगपदेवाविरुद्धस्वांशस्य पदार्थान्तरस्य च बोधनमपि लक्षणया न सम्भवति सकृच्छ्रुतस्यैकस्य पदस्य युगपदुभयलक्षकत्वासम्भवादिति दिक् ॥

पूर्वपक्षी - 'तत्' पद ('त्वं' पद के अर्थ से) विरुद्ध अपने अंश को छोड़ कर अवशिष्ट (अर्थात् 'त्वं' पद के अर्थ से अविरुद्ध) अंश के सहित 'त्वं' पद के वाच्य अर्थ का लक्षणा से बोध कराये, तथा इसी तरह 'त्वं' पद ('तत्' पद के अर्थ से) विरुद्ध अपने अंश को छोड़ कर अवशिष्ट (अर्थात् 'तत्' पद के अर्थ से अविरुद्ध) अंश के सहित 'तत्' पद के वाच्य अर्थ का लक्षणा से बोध कराये (तो महावाक्य के अर्थ-बोध में कोई कठिनाई न होगी)। अतः जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा से भिन्न प्रकार के द्वारा भाग-लक्षणा को क्यों स्वीकार किया जाय ? (अर्थात् भागलक्षणा = जहदजहल्लक्षणा को मानने की आवश्यकता ही नहीं है)।

सिद्धान्ती --नहीं, आपका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि एक ही पद के द्वारा अपने वाच्य अर्थ के एक भाग तथा दूसरे पद के (पूर्ण) वाच्य अर्थ को लक्षणावृत्ति से बोध कराना असम्भव है। (इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि) दूसरे पद के द्वारा उसके वाच्य अर्थ की प्रतीति के (अभिधा से ही) हो जाने पर लक्षणा के द्वारा पुनः उसी की प्रतीति कराने की अपेक्षा नहीं रह जाती है। (अतः तुम्हारा कथन तर्क-सम्मत नहीं है)।

टिप्पणी--अत्र शोणो धावति।...अजहल्लक्षणा सम्भवति--मेले में घुड़दौड़ हो रही थी। भीड़ के पीछे से किसी ने पूछा कि कौन घोड़ा सर्वाधिक वेग से दौड़ रहा है ? उत्तर मिला--"शोणो धावति"=लाल (घोड़ा सर्वाधिक वेग से) दौड़ रहा है ? किन्तु शोण=लालरंग तो गुण है। अतः उसमें दौड़ने रूप क्रिया का होना स सव ही नहीं है। क्रिया द्रव्य में होती है, गुण में नहीं। गुण भी स्वयं द्रव्याश्रित होता है। अतः 'शोणो धावति' इस वाक्य का वाच्य अर्थ--'लालरंग दौड़ रहा है' अनुपपन्न होता है। तब शोण पद की लक्षणा शोणगुणविशिष्ट अश्व में होती है। लक्ष्यार्थ होता है--लाल रंगवाला घोड़ा दौड़ रहा है। यहाँ 'शोण' पद अपना बोध कराते हुए भी अपने आश्रय अश्व का बोध कराता है। इस वाक्य में मुख्य अर्थ का विना परित्याग किये अश्व का लक्षणा से बोध कराने के कारण अजहल्लक्षणा संगत होती है।

अत्र तु...न सम्भवत्येव—किन्तु 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में अजहल्लक्षणा सम्भव ही नहीं हो सकती। यहाँ 'तत्' पद का वाच्यार्थ है—'परोक्षत्व आदि

से विशिष्ट 'चैतन्य' तथा 'त्वं' पद का वाच्यार्थ है 'अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य'। इन दोनों पदों के अर्थों की एकता ही यहाँ अभिप्रेत है। परन्तु यह एकता तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि दोनों पदों के 'परोक्षत्व आदि से विशिष्ट' तथा 'अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट' इन परस्पर विरुद्ध अंशों का परित्याग न कर दिया जाय। अजहल्लक्षणा के बल पर 'तत्' एवं 'त्वं' पद अपने-अपने अर्थों का परित्याग किय बिना यदि किसी अर्थ को लक्षित भी करावें तब भी विरोध का परिहार न हो सकेगा। फिर लक्षणा का आश्रय लेना भी निष्फल होगा। यही कारण है कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में अजहल्लक्षणा सम्भव ही नहीं है।

महावाक्य का अर्थ-ज्ञान जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा से सम्भव नहीं है। अतः उसके लिये भागलक्षणा ही एकमात्र उपाय है। इसका सोदाहरण प्रतिपादन किया जा रहा है—

तस्माद्यथा 'सोऽयं देवदत्त' इति वाक्यं तदर्थो वा तत्कालैतत्कालविशिष्ट-देवदत्तलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धतत्कालैतत्कालविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धं देवदत्तांशमात्रं लक्षयति, तथा 'तत्त्वमसि' इति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद्विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति ॥ ५७॥

अर्थः—इसलिये जिस प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' यह वाक्य अथवा इसका वाच्य अर्थ, 'भूतकाल विशिष्ट देवदत्त ही वर्तमानकाल विशिष्ट देवदत्त है' इस वाक्यार्थ के एक भागमात्र में विरोध होने के कारण विरुद्ध भाग 'भूतकालविशिष्टत्व' एवं 'वर्तमानकालविशिष्टत्व' का परित्याग कर केवल देवदत्त भाग को ही लक्षणा के द्वारा बोधित कराता है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' यह वाक्य अथवा इसका वाच्य अर्थ 'परोक्षत्वादि विशिष्ट जैतन्य' तथा 'अपरोक्षत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य' के एकतारूप वाच्यार्थ के केवल एक भागमात्र में विरोध होने के कारण, विरुद्ध भाग 'परोक्षत्वादि-विशिष्टत्व' तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' को छोड़ कर अविरुद्ध (अर्थात् 'तत्' एवं 'त्वं'—इन दोनों पदों के अर्थों में प्राप्त) अखण्ड चैतन्यमात्र को लक्षणा (अर्थात् भागलक्षणा) के द्वारा बोधित कराता है।

टिप्पणी--भागलक्षणा--भागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ कि कोई शब्द अपने समूचे अर्थ के एक भाग को छोड़ कर दूसरे भाग को लेते हुए किसी अन्य अर्थ को लक्षित कराता है।

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का वेदान्त-सम्मत अर्थ कर लेने के बाद अब अधिकारी की अनुभूति का वर्णन किया जा रहा है, जो उसे अज्ञान की निवृत्ति के पश्चात् 'अहं ब्रह्मास्मि'='मैं ब्रह्म हूँ' के साक्षात्कार से होती है—

अथाधुना 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते। 'एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरस्सरं तत्त्वंपदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्मास्मीत्यखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती प्रत्यगभिन्नमज्ञातं परं ब्रह्म विषयीकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदा पटकारणतन्तुदाहे पटदाहवदखिलकारणेऽज्ञाने बाधिते सति तत्कार्यस्याखिलस्य बाधितत्वात्तदन्तर्भूताखण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति। तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि, यथा दीपप्रभादित्यप्रभावभासनासमर्था सती तयाभिभूता भवति, तथा स्वयंप्रकाशमानप्रत्यगभिन्नपरब्रह्मावभासनानर्हतया तेनाभिभूतं सत् स्वोपाधिभूताखण्डचित्तवृत्तेर्बाधितत्वाद्दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखमात्रत्ववत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति॥ ५८॥

अर्थः—('तत्त्वमसि') इस (महावाक्य के विवेचन) के बाद अब "अहं ब्रह्मास्मि"="मैं ब्रह्म हूँ" इस तरह के ब्रह्मसाक्षात्काररूप अनुभव को कराने

अनुभववाक्यार्थं विवृणोति - अथेत्यादिना। 'मंगलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरकोशवचनाद् 'उपदेशवाक्यनिरूपणानन्तर्यमथशब्दार्थः'। नित्येत्यादिना ब्रह्म विशिनष्टि—तत्र नित्यपदेन ब्रह्मणोऽनित्यत्वं निराकरोति शुद्धपदेनाऽविद्यादिराहित्यम्। बुद्धपदेन तच्चैतन्यं प्रतिपाद्य जाड्यं परिहरति। मुक्तपदेन निखिलोपाधिशून्यताम्। सत्यपदेन नित्यविनाशिस्वभावत्वम्। परमानन्दपदेन संसारानन्दाद्वैलक्षण्यं प्रतिपादितम्। अखण्डाकाराकारिता=अखण्डब्रह्माकारविशिष्टा। तद्गताज्ञानम्=ब्रह्मविषयकमज्ञानम्। परं ब्रह्म—अनेन कार्यब्रह्मणः, सोपाधिकब्रह्मण इत्यर्थः, विषयत्वं व्यावर्तितम्॥

वाले वाक्य का अर्थ बतलाया जा रहा है। इस प्रकार अचार्य के द्वारा आध्यारोप एवं अपवाद की प्रक्रिया के माध्यम से 'तत्' और 'त्वं' पदों के अर्थों का विवेचन करके ('तत्त्वमसि' इस) वाक्य के द्वारा अखण्ड-ब्रह्मरूप अर्थ का बोध करा दिये जाने पर अधिकारी (मुमुक्षु के मन) में "मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, स्वभाव वाला परमानन्दरूप, अनन्त और अद्वय ब्रह्म हूँ" इस तरह की अखण्ड ब्रह्म के आकार को धारण करने वाली चित्तवृत्ति उदित होती है। वह चित्तवृत्ति चिदात्मा के प्रतिबिम्ब से युक्त होती हुई प्रत्यगात्मा से अभिन्न, अज्ञात परब्रह्म को विषय बना कर ब्रह्मविषयक अज्ञान का ही दमन कर देती है। उस अवस्था में (अर्थात् अज्ञान के दमित कर दिये जाने पर), जैसे पट के कारण तन्तुओं के जल जाने पर पट भी जल जाता है, उसी तरह, सकल प्रपञ्च के कारण अज्ञान के बाधित हो जाने से उस (प्रपञ्च) के अन्दर आनेवाली, अखण्डब्रह्म के आकर से आकारित चित्तवृत्ति भी बाधित (विनष्ट) हो जाती है।

जैसे दीपक की ज्योति सूर्य की प्रभा को प्रकाशित करने में असमर्थ होती हुई उस (सूर्य-प्रभा) से अभिभूत हो जाती है, वैसे ही चित्तवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) भी स्वयं प्रकाशित प्रत्यगात्मरूप परब्रह्म को प्रकाशित करने में असमर्थ होने के कारण उस (ब्रह्म) से अभिभूत होकर अपनी उपाधि-रूप अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति के विनष्ट हो जाने के कारण प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमब्रह्ममात्र हो जाता है, जैसे कि दर्पण के अभाव में (दर्पण में दिखलाई पड़ने वाली) मुख की परछाइं मुख मात्र हो जाती है ॥ ५८ ॥

टिप्पणी–अहं ब्रह्मास्मि–यह महावाक्य अनुभव वाक्य है, जब कि 'तत्त्वमसि' यह उपदेश वाक्य है। अनुभव का अर्थ है ब्रह्म का आन्तरिक साक्षात्कार।

तदा पटकारणतन्तुदाहे···चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति—पट का निर्माण तन्तुओं से होता है। तन्तु पट के कारण हैं। यदि ये तन्तु जल कर नष्ट हो जांय तो पट भी नष्ट हो जाता है। ठीक इसी तरह समस्त प्रपञ्च की रचना अज्ञान के कारण होती है। इसके निर्माण में अज्ञान ही कारण है। जब चित्तवृत्ति उस अज्ञान को ही विनष्ट (बाधित) कर देती है, उस समय उसका कार्य सारा जगत्प्रपञ्च भी समाप्त हो जाता। उस समय स्वयं वह

चित्तवृत्ति भी समाप्त ही हो जाती है, क्योंकि वह भी जगत् के ही अन्तर्गत है। फिर ब्रह्म ही ब्रह्म अविशिष्ट रहता है ॥ ५८ ॥

आत्मसाक्षात्कार के विषय में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाली श्रुतियों में किस प्रकार का विरोध नहीं है, इसे सोदाहरण प्रतिपादित कर रहे हैं—

एवञ्च सति 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' 'यन्मनसा न मनुते' इत्यनयोः श्रुत्योरविरोधो वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्। तदुक्तम्—

'फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता'। इति ॥
'स्वयं प्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते'। इति च ॥

जडपदार्थाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथाहि—अयं घट इति घटाकाराकारितचित्तवृत्तिरज्ञातं घटं विषयीकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरस्सरं स्वगतचिदाभासेन जडं घटमपि भासयति। तदुक्तम्—

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत्' इति ॥

यथा दीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटपटादिकं विषयीकृत्य तद्गतान्धकारनिरसनपुरस्सरं स्वप्रभया तदपि भासयतीति ॥ ५९ ॥

अर्थः—(ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया के) ऐसी होने पर ही 'मन के द्वारा ही उसका दर्शन करना चाहिये' (वृहदा० ४।२।१९), 'जो मन के द्वारा नहीं जाना जाता' (केनोपनिषद् १।५) इन दोनों श्रुति-वचनों में कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि (वेदान्त-ग्रन्थों में) ब्रह्म का चित्तवृत्ति के द्वारा व्याप्त किया जाना स्वीकार किया गया है, किन्तु फल (अर्थात् चिदाभास, चित्प्रतिबिम्ब) के द्वारा उस (ब्रह्म) के व्याप्त किये जाने का निषेध किया गया है। यही बात (विद्यारण्य स्वामी के द्वारा) कही गई है—

अन्वयः—शास्त्रकृद्भिः, अस्य, फलव्याप्यत्वम्, एव, निवारितम्; (किन्तु), ब्रह्मणि, अज्ञाननाशाय, वृत्तिव्याप्तिः, अपेक्षिता; (ब्रह्मणः), स्वयम्प्रकाशमानत्वात्, आभासः, न, उपयुज्यते ॥

एवं च सतीति। ब्रह्मणि=ब्रह्मविषयके, आभासः=चिदाभास इत्यर्थः, तदाभासायेति शेषः। विशेषः=भेदः धिया=अखण्डाकाराकारितचित्तवृत्त्या। इति—इति शब्दोऽनुभववाक्यार्थनिरूपणसमाप्तिपरः।

शब्दार्थः—शास्त्रकृद्भिः=शास्त्रकारों के द्वारा, अस्य=इस ब्रह्म की, फलव्याप्यत्वम्=फलव्याप्यता (अर्थात् चिदाभास से प्रकाशित होना), एव=ही, निवारितम्=निषिद्ध किया गया है; (किन्तु=परन्तु), ब्रह्मणि=ब्रह्म-विषयक, अज्ञाननाशाय=अज्ञान के विनाश के लिये, वृत्तिव्याप्तिः=चित्तवृत्ति की व्याप्ति (अर्थात् चित्तवृत्ति के द्वारा ब्रह्म को विषय बनाना), अपेक्षिता=अपेक्षित ही है; (ब्रह्मणः=ब्रह्म के), स्वयम्प्रकाशमानत्वात्=स्वयं प्रकाशमान होने के कारण, आभासः=चिदाभास, न=नहीं, उपयुज्यते=उपयोगी है ॥

अर्थः—शास्त्रकारों के द्वारा इस ब्रह्म की फलव्याप्यता (अर्थात् चिदाभास से प्रकाशित होना) ही निवारित किया गया है; किन्तु ब्रह्म-विषयक अज्ञान के विनाश के लिये चित्तवृत्ति की व्याप्ति (अर्थात् चितवृत्ति के द्वारा ब्रह्म को विषय बनाना) अपेक्षित ही है (ब्रह्म के) स्वयं प्रकाशमान होने के कारण (उसको प्रकाशित करने के लिये) चिदाभास नहीं उपयोगी है ॥ (पञ्चदशी ७।९२) ॥

(अखण्ड ब्रह्म के आकार से आकारित चित्तवृत्ति की अपेक्षा) जड पदार्थ के आकार से आकारित चित्तवृत्ति में अन्तर है। जैसे कि—'यह घट है' इस ज्ञान में घट के आकार से आकारित चित्तवृत्ति अज्ञात घट को अपना विषय बना कर सर्वप्रथम घट-विषयक अज्ञान को दूर करके अपने में स्थित (अर्थात् चित्त-वृत्ति में स्थित) चिदाभास के द्वारा जड घट को भी प्रकाशित करती है। यही कहा भी गया है—

अन्वयः—बुद्धितत्स्थचिदाभासौ, द्वौ, अपि, घटम्, व्याप्नुतः, तत्र, धिया, अज्ञानम्, नश्येत्, (तथा), आभासेन, घटः, स्फुरेत् ।

शब्दार्थः—बुद्धितत्स्थचिदाभासौ=बुद्धि और बुद्धि में स्थित चिदाभास, द्वौ = दोनों, अपि = ही, घटम् = घट को, व्याप्नुतः=व्याप्त करते हैं, अपना विषय बनाते हैं; तत्र = उसमें, धिया = बुद्धि के द्वारा (अर्थात् चित्तवृत्ति के द्वारा), अज्ञानम्=(घटविषयक) अज्ञान, नश्येत्=नष्ट होता है, (तथा=और), आभासेन=चिदाभास के द्वारा, घटः=घट, स्फुरेत्=प्रकाशित होता है ॥

अर्थः—बुद्धि और बुद्धि में स्थित चिदाभास—दोनों ही—घटको व्याप्त करते हैं (अर्थात् अपना विषय बनाते हैं)। उसमें बुद्धि के द्वारा (अर्थात् चित्तवृत्ति के द्वारा) घट-विषयक अज्ञान नष्ट होता है, (और) चिदाभास के द्वारा घट

प्रकाशित होता है ।। (पञ्चदशी ७।६१) ।।; जैसे कि दीप का प्रभा-मण्डल, अन्धकार में स्थित घट, पट आदि को विषय बनाकर, उनको घेर कर स्थित अन्धकार को दूर भगाकर अपनी प्रभा से उन (घट, पट) को भी प्रकाशित करता है ।

टिप्पणी—वृत्तिव्याप्यत्वाङ्गीकारेण फलव्याप्यत्वप्रतिषेधप्रतिपादनात्—इस सन्दर्भ को समझने के लिए वेदान्तियों के लौकिक ज्ञान की उत्पत्ति की प्रक्रिया समझनी होगी । उनका कहना है कि जैसे तालाब का पानी नाली से निकल कर क्यारियों में प्रवेश करके उन्हीं (क्यारियों) के आकार में फैल जाता है अर्थात् उन्हीं के आकार को धारण कर लेता है, उसी प्रकार चित्तवृत्ति भी चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वार से घट, पट आदि विषयों के स्थान पर जाकर उन्हीं के आकार में परिणत हो जाती है । यही चित्तवृत्ति के द्वारा घट, पट आदि का व्याप्त किया जाना वृत्ति की व्याप्तता है । इससे घट के विषय में होने वाला व्यक्ति का अज्ञान विनष्ट होता है । चित्तवृत्ति के विषयाकार परिणत हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) के द्वारा उस घट, पट आदि का स्फुरण=प्रकाशन होता है । चिदाभास के द्वारा घट, पट के इस स्फुरण को ही फल-व्याप्ति कहते हैं ।

ऊपर बतलाई गई ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रह्मज्ञान के लिये वृत्तिव्याप्ति तो आवश्यक है, क्योंकि उसी से ब्रह्मविषयक अज्ञान विनष्ट होगा । किन्तु ब्रह्म में फल-व्याप्ति के लिए अवसर ही नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान है । अतः चिदाभास के द्वारा उसका प्रकाशित किया जाना सम्भव ही नहीं है ।

ब्रह्म के साक्षात्कार करने की अवधि तक श्रवण आदि की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए उनके स्वरूप का निरूपण कर रहे हैं—

एवंभूतस्वस्वरूपचैतन्यसाक्षात्कारपर्य्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते ।

श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम् । लिङ्गानि तूपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्त्याख्यानि ।

तत्र प्रकरणप्रतिपाद्यस्यार्थस्य तदाद्यन्तयोरुपपादनमुपक्रमोपसंहारौ। यथा छान्दोग्ये षष्ठाध्याये प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादौ 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ते च प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य वस्तुनस्तन्मध्ये पौनःपुन्येन प्रतिपादनमभ्यासः। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मध्ये तत्त्वमसीति नवकृत्वः प्रतिपादनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्याद्वितीयवस्तुनः प्रमाणान्तराविषयीकरणमपूर्वता। यथा तत्रैवाद्वितीयवस्तुनो मानान्तराविषयीकरणम्।

फलं तु प्रकरणप्रतिपाद्यस्यात्मज्ञानस्य तदनुष्ठानस्य वा तत्र तत्र श्रूयमाणं प्रयोजनम्। यथा तत्र 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' इत्यद्वितीयवस्तुज्ञानस्य तत्प्राप्तिः प्रयोजनं श्रूयते।

प्रकरणप्रतिपाद्यस्य तत्र तत्र प्रशंसनमर्थवादः। यथा तत्रैव 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' इत्यद्वितीयवस्तुप्रशंसनम्।

प्रकरणप्रतिपाद्यार्थसाधने तत्र तत्र श्रूयमाणा युक्तिरुपपत्तिः। यथा तत्र 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादावद्वितीयवस्तुसाधने विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वे युक्तिः श्रूयते॥ ६०॥

अर्थः—अपने स्वरूपभूत चैतन्य के इस प्रकार से साक्षात्कार होने तक श्रवण मनन, निदिध्यासन तथा समाधि के अभ्यास के अपेक्षित होने के कारण (यहाँ) उन्हें भी प्रदर्शित किया जा रहा है।

सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्यों का, छः प्रकार के लिङ्गों से, अद्वितीय (ब्रह्मरूप) वस्तु में तात्पर्य का निश्चय करना श्रवण है। ये लिंग हैं—(१) उपक्रम और उपसंहार (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति।

इनमें प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उस (प्रकरण) के आदि और अन्त में उपपादन करना ही क्रमशः उपक्रम और उपसंहार है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद

श्रवणं नामेति। तात्पर्यावधारणम्-तात्पर्यस्य=अभिप्रायस्य अवधारणम्=युक्त्योपपादनमर्थनिश्चयश्चेति। लिङ्गानि--लीनम्=जीवस्य ब्रह्मणश्चैकात्म्यरूपमर्थं गमयन्ति=सूचयन्तीति लिंगानि। विकारस्य=कार्यस्य। वाचा=वाण्या, आरम्भणम्=कथनम्॥

के छठे अध्याय में प्रकरण के प्रतिपाद्य (ब्रह्मरूप) अद्वितीय वस्तु का 'एकमेवाद्वितीयम्' (६।२।१) अर्थात् 'एकमात्र अद्वितीय (सत् ही था)' यह प्रारम्भ में तथा 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' (६।८।७)' अर्थात् 'यह सम्पूर्ण प्रपञ्च इस (सत्संज्ञक) आत्मा से आत्मवान् है' । यह अन्त में प्रतिपादित किया गया है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उस (प्रकरण) के मध्य में बार-बार प्रतिपादन करना अभ्यास है। जैसे वहीं (छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में ही) अद्वितीय वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में 'तत्त्वमसि' ऐसा नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का (श्रुति के अतिरिक्त) किसी दूसरे प्रमाण का विषय न बनाना (अर्थात् श्रुति के अतिरिक्त अन्य प्रमाण से उसकी सिद्धि न करना) अपूर्वता है। जैसे उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) का किसी दूसरे प्रमाण का विषय न होना है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा आत्मज्ञान के अभ्यास का यत्र-तत्र सुनाई पड़ने वाला प्रयोजन ही फल है। जैसे वहाँ पर 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्यते' (६।१४।२) अर्थात् 'आचार्यवान् पुरुष ही आत्मा को जानता है। उसके लिए तो तभी तक देर है, जब तक कि वह इस शरीर से अलग नहीं हो जाता। उसके बाद तो वह ब्रह्म हो हो जाता है।' इस तरह अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उसकी प्राप्ति कही गई है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य वस्तु को यत्र-तत्र प्रशंसा करना ही अर्थवाद है। जैसे वहीं पर 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (६।१।३) अर्थात् 'क्या आपने (आचार्य से) उस आदेश (प्रश्न) को पूछा है? जिसके सुन लेने पर बिना सुना हुआ भी सुना हो जाता है।, बिना विचारा हुआ विचारित हो जाता है, अज्ञात भी विज्ञात हो जाता है।' इस प्रकार अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गई है।

प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ (वस्तु) को सिद्ध करने के लिए स्थान-स्थान पर वर्णित युक्ति ही उपपत्ति है, जैसे वहीं पर 'सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (६।१।४) अर्थात् "हे सौम्य, एक मिट्टी (के टुकड़े) को जान लेने पर सम्पूर्ण

मृण्मय पदार्थ ज्ञात हो जाते हैं। विकार (कार्य) तो वचन से कहने के लिए नाम-मात्र है, सत्य हो एकमात्र (कारणरूप) मृत्तिका ही है।" इत्यादि वाक्यों में अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) की (सत्यता की) सिद्धि के लिए विकार को एकमात्र वाणी से कहने भर के लिए युक्ति प्रदान की है ॥ ६० ॥

टिप्पणी—लिङ्गानि—जीव और ब्रह्म की अभिन्नता रूप अदृश्य वस्तु को बतलाने के कारण उपक्रम आदि को लिंग कहते हैं।

अपूर्वता—मीमांसक और वेदान्ती यह मानते हैं कि शास्त्र को अज्ञात का ज्ञापक होना चाहिये—'अज्ञातज्ञापकं शास्त्रम्' तर्क आदि से जिस ब्रह्म की सिद्धि नहीं होती उपनिषदें तथा वेद उसी ब्रह्म का उपदेश करते हैं। यही है उनकी अपूर्वता।

उपपत्तिः—जो व्यक्ति मिट्टी के एक टुकड़े को तत्त्वतः जान लेता है, वस्तुतः वही मिट्टी से बने सम्पूर्ण पदार्थों को जान लेता है, क्योंकि मिट्टी के घड़े, सकोरे आदि जितने भी कार्य हैं वे सब मिट्टी ही हैं। तात्त्विकरूप से सब में मिट्टी ही मिट्टी है और वही सत्य भी है। घट, सकोरा आदि नाम तो एकमात्र वाणी से कह कर व्यवहार चलाने भर के लिए हैं। इसी तरह ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कार्य-रूप यह सारा जगत् परमार्थतः ब्रह्म ही है। ब्रह्म के अलावा इसकी कोई अलग सत्ता ही नहीं है। कारण ही सत्य होता है, कार्य नहीं ॥ ६० ॥

श्रवण के अनन्तर अब मनन, निदिध्यासन तथा समाधि का स्वरूप बतलाने जा रहे हैं—

मननं तु श्रुतस्याद्वितीयवस्तुनो वेदान्तानुगुणयुक्तिभिरनवरतमनु-चिन्तनम्। विजातीयदेहादिप्रत्ययरहिताद्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्र-वाहोनिदिध्यासनम्। समाधिर्द्विविधिः सविकल्पको निर्विकल्पकश्चेति तत्र सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीय वस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरवस्थानम्। तदा मृण्मयगजादिभानेऽपि मृद्भानवद् द्वैतभानेऽप्यद्वैतं वस्तु भासते। तदुक्तम्—

'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सततं विमुक्तमोम् ॥इति॥६१॥

मननमिति। वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः—वेदान्तस्य अनुगुणाः=अनुरूपाः याः

अर्थः—(गुरु के उपदेश) में जिसका श्रवण किया जा चुका है, अथवा (उपनिषदों में) जिसका अध्ययन किया गया है, उस अद्वितीय वस्तु का, वेदान्त के अनुकूल युक्तियों के द्वारा, निरन्तर चिन्तन करना ही मनन है। देह आदि के विषय में होनेवाले विजातीय (बेमेल) विचारों से रहित, अद्वितीय वस्तु के सजातीय (सदृश) विचारों को (मन में) प्रवाहित करना ही निदिध्यासन है। समाधि दो तरह की होती है—(१) सविकल्प और (२) निर्विकल्पक। इसमें ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय के विकल्प (विभाग) के लय (समाप्ति) की अपेक्षा विना किये उस अद्वितीय वस्तुरूप ब्रह्म के आकार को धारण करने वाली चित्तवृत्ति को अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में लगाना ही सविकल्पक समाधि है। उस अवस्था में, मिट्टी के बने हुये गज आदि की प्रतीति होने पर भी जैसे वस्तुतः मिट्टी की ही प्रतीति होती है (कि यह हाथी मिट्टी ही है), उसी तरह द्वैत की प्रतीति होने पर भी वस्तुतः अद्वैत वस्तु की ही प्रतीति होती है। यही बात (उपदेश-साहस्री में) कही भी गई है—

अन्वयः—यत्, दृशिस्वरूपम्, गगनोपमम्, परम्, सकृद्विभातम्, तु, अजम्, एकम्, अक्षरम्, अलेपकम्, सर्वगतम्, अद्वयम्, (अस्ति , तत्, एव, अहम्, (अतः), सततम्, विमुक्तम्, (अस्मि) ॥

शब्दार्थः—यत्=जो चैतन्य, दृशिस्वरूपम्=साक्षिस्वरूप है, गगनोपमम्=आकाश के समान (सर्वव्यापक), परम्=मायातीत, सकृद्विभातम्=सर्वदा एक समान प्रकाशित होने वाला, तु=और, अजम्=जन्म-रहित, एकम्=एक (अर्थात् सजातीय तथा विजातीय भेदों से रहित), अक्षरम्=अविनाशी, अलेपगम्=अविद्या आदि दोषों से रहित, सर्वगतम्=सब में अनुस्यूत, अद्वयम्=अद्वय, (अस्ति=है), तत्=वह, एव=ही, अहम्=मैं हूँ, (अतः=इसलिये), सततम्=सर्वदा, विमुक्तम्=विमुक्त, (अस्मि=हूँ) ॥

युक्तयः=उपायाः तैः। विजातीयेत्यादिः—विजातीयाः=चैतन्यविसदृशाः ये देहादयः=शरीरादिबुद्धयन्ताः तेषां प्रत्ययः=विचारणा तस्माद्रहितः=विहीनः तथा अद्वितीयस्य वस्तुनः=ब्रह्मण इत्यर्थः सजातीयः=चैतन्यानुरूपः यः प्रत्ययः तस्य प्रवाहः=धारारूपेणावधारणम्, निदिध्यासनम्=निरन्तरं निध्यासनमिति सनि युचि रूपम्। ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षया=ज्ञातुर्ज्ञेयस्य तत्साधनस्य ज्ञानस्य चापि भेदज्ञानोपशमनं विनापीति ॥

अर्थः—जो चैतन्य साक्षिस्वरूप है, आकाश के समान (सर्व व्यापक) है, मायातीत है, सर्वदा एक समान प्रकाशित होने वाला है, जन्म-रहित है, एक (अर्थात् सजातीय एवं विजातीय भेदों से रहित) है, अविनाशी है, अविद्या आदि दोषों से रहित है, सब में अनुस्यूत है, अद्वय है, वही मैं हूँ। (इसलिये) सर्वदा विमुक्त हूँ ॥६१॥

टिप्पणी—सविकल्पसमाधिः—सविकल्पक समाधि में व्यक्ति को यह भान होता है कि—(१) मैं ज्ञाता हूँ, (२) ब्रह्म ज्ञेय है और (३) ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है। फिर भी वह ब्रह्म के आकार को धारण करने वाली अपनी चित्तवृत्ति को बार-बार ब्रह्म में स्थिर करता है।

सविकल्पिक समाधि के स्वरूप को बतला लेने के अनन्तर अब निर्विकल्पक समाधि के स्वरूप को बतला रहे हैं—

निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। तदा तु जलाकाराकारितलवणानवभासेन जलमात्रावभासवदद्वितीयवस्त्वाकाराकारितचित्तवृत्त्यनवभासेनाद्वितीयवस्तुमात्रमवभासते। ततश्चास्य सुषुप्तेश्चाभेदशङ्का न भवति। उभयत्र वृत्त्यभाने समानेऽपि तत्सद्भावासद्भावमात्रेणानयोर्भेदोपपत्तेः ॥ ६२ ॥

अर्थः—ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग के विलीन हो जाने की अपेक्षा से, अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में, ब्रह्म के आकार से आकारित (चिह्नित) चित्तवृत्ति का (पानी में नमक की भाँति) अत्यन्त अभिन्नरूप से स्थित होना ही निर्विकल्पक समाधि है। उस अवस्था में तो, जल के आकार को धारण कर लेने वाले नमक की प्रतीति न होने से जैसे केवल जल की प्रतीति होती है, वैसे ही अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का भान न होकर एकमात्र अद्वितीय वस्तु ही भासित होता है। यही कारण है कि इस (निर्विकल्पक समाधि) की सुषुप्ति से अभिन्न होने की शङ्का नहीं होती है। (क्योंकि) दोनों में (अर्थात् निर्विकल्पक समाधि और सुषुप्ति में) चितवृत्ति का

निर्विकल्पकसमाधेः सुषुप्तेर्भेदं प्रदर्शयन्नाह—ततश्चास्येति। ततः=अद्वितीयवस्तुनि चित्तवृत्तेरवस्थानान्न तु विलीनीभावादेवेत्यर्थः, अस्य=निर्विकल्पकसमाधेः, तत्सद्भावासद्भावमात्रेण—निर्विकल्पकसमाधौ चित्तवृत्तिर्निगृहीता सती न प्रतीयते, किन्तु तत्र तत्सत्ता तु भवत्येव। सुषुप्तौ हि साऽज्ञाने विलीना भवति चित्तेन सहैवातस्तत्र न भवति तत्सत्तेति भेदविमर्श इति दिक् ॥

होना और न होना ही इन दोनों की भेद-सिद्धि में कारण है (अर्थात् सुषुप्ति में चित्तवृत्ति की सत्ता नहीं रहती है, उस समय चित्तवृत्ति का विलय अज्ञान में हो जाता है, और समाधि में चित्तवृत्ति की सत्ता तो रहती है, किन्तु निगृहीत हो जाने से उसका भान नही होता है ।

टिप्पणी—निर्विकल्पकसमाधिः—निर्विकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है । उस समय एकमात्र ज्ञेय वस्तु का ही भान होता है । चित्तवृत्ति ज्ञेय-स्वरूप ही हो जाती है, जैसे कि पानी में पड़ा नमक पानीरूप हो हो जाता है ।

पूर्वपक्षी—यदि ऐसी बात है तो निर्विकल्पक समाधि और सुषुप्ति में कोई भेद न किया जा सकेगा, क्योंकि सुषुप्ति में भी चित्तवृत्ति की सत्ता नहीं रहती है ।

सिद्धान्ती—नहीं, सुषुप्ति और निर्विकल्पक समाधि में समानता नहीं हो सकती, क्योंकि सुषुप्ति की अवस्था में चित्तवृत्ति अज्ञान में विलीन हो जाती है, उस समय उसकी सत्ता ही नहीं रहती है । किन्तु निर्विकल्पक समाधि में तो चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है, उसकी सत्ता नहीं समाप्त होती है । चित्तवृत्ति का यह न होना और होना ही क्रमशः सुषुप्ति और निर्विकल्पक समाधि में भेद का परिचायक है—"लीयते हि सुषुप्ते, तन्निगृहीतं न लीयते" (माण्डूक्यकारिका ३।३५) ॥ ६२ ॥

अब आगे निर्विकल्पक समाधि के अगों का विवेचन करने जा रहे हैं—

अस्याङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः । तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः । करचरणादिसंस्थानविशेषलक्षणानि । पद्मस्वस्तिकादीन्यासनानि । रेचकपूरककुंभकलक्षणाः प्राणनिग्रहोपायाः प्राणायामाः । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः । अद्वितीयवस्तुन्यन्तरिन्द्रियधारणं धारणा । तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम् । समाधिस्तूक्तः सविकल्पक एव ॥ ६३ ॥

निर्विकल्पकसमाधेरङ्गानि विवृणोति—अस्येत्यादिना । अस्य समाधेरष्टाङ्गेषु यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाराः पञ्च बहिरङ्गानि । हिंसादिभ्यो निषिद्धेभ्यः साधकं योगिनमिति यावत् कर्मभ्यो यमयन्ति नियमयन्तीत्यहिंसादयो यमाः ।

अर्थः—इस (निर्विकल्प समाधि) के अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (संग्रह न करना)—ये यम हैं। शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान (ईश्वर का चिन्तन)—ये नियम हैं। हाथ और पैर आदि जिनमें एक विशेष स्थिति में रखे जाते हैं, वे पद्म एवं स्वस्तिक आदि आसन हैं। प्राणवायु को वश में करने के उपायभूत रेचक, पूरक तथा कुम्भक आदि प्राणायाम कहे गये हैं। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटा लेना प्रत्याहार है। अद्वितीय वस्तु में अन्तःकरण को लगाना धारणा है। अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में अन्तःकरण की वृत्ति को रोक-रोक कर प्रवाहित करना (अर्थात् लगाना) ध्यान है। समाधि तो पूर्वोक्त सविकल्पक ही है ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—ईश्वरप्रणिधानम्—मानसिक उपचारों से ईश्वर की पूजा एवं ध्यान ईश्वर प्रणिधान कहा गया है।

निर्विकल्पक समाधि के विघ्नों को बतला कर उनके निवारण का उपाय बतलाने जा रहे हैं—

एवमस्याङ्गिनो निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। लयस्तावदखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेर्निद्रा। अखण्डवस्त्वनवलम्बनेन चित्तवृत्तेरन्यावलम्बनं विक्षेपः॥ लयविक्षेपाभावेऽपि चित्तवृत्तेः रागादिवासनया स्तब्धीभावादखण्डवस्त्वनवलम्बनं कषायः अखण्डवस्त्वनवलम्बनेनापि चित्तवृत्तेः सवि-

---

जन्महेतून् काम्यधर्मान् निवर्त्य मोक्षहेतौ निष्कामधर्मे नियमयन्ति प्रेरयन्तीति शौचादयो यमाः। धारणाध्यानसमाधित्रयं मनोविषयत्वात् निर्विकल्पकसमाधेरन्तरङ्गं यमादिकं तु बहिरङ्गम्। अहिंसा=वाङ्मनःकायैः प्राणिपीडापरिहारोऽहिंसा। सत्यम्=यथार्थभाषणं सत्यम्। अस्तेयम्=अदत्तस्य परवस्तुनोऽनादानमस्तेयम्। ब्रह्मचर्यम्=अष्टधा मैथुनवर्जनम्। अपरिग्रहः=सांसारिकवस्तुनोऽसंग्रहः। शौचम्=शौचं तु द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च। तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यं तथाऽऽन्तरं भावशुद्धिरूपम्। सन्तोषः=ईश्वरेच्छया प्राप्ते सन्तुष्टिः। ईश्वरप्रणिधानम्=ईश्वरस्यानुचिन्तनं तन्मनसाऽभ्यर्चनं वेति। आसनम्—आस्यते=स्थीयतेऽनेन प्रकारेणेत्यासनं स्थितिविशेषः॥

कल्पकानन्दास्वादनं रसास्वादः। समाध्यारम्भसमये सविकल्पकानन्दास्वादनं वा। अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। तदुक्तम्—

'लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति ॥
'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'। इति च ॥६४॥

अर्थः—आठ अङ्गों वाली इस निर्विकल्पक समाधि में (१) लय (२) विक्षेप (३) कषाय तथा (४) रसास्वाद नामक ये चार विघ्न सम्भावित रहते हैं। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करके चित्तवृत्ति का सो जाना (अलसा जाना) ही लय है। चित्तवृत्ति के द्वारा अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न करके अन्य वस्तु का अवलम्बन करना ही 'विक्षेप' है। लय एवं विक्षेप (नामक विघ्नों) की अनुपस्थिति में भी राग (सांसारिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण) आदि वासनाओं के कारण चित्तवृत्ति का स्तब्ध (जड) हो जाने से, अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना ही 'कषाय' है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करके चित्तवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करना ही 'रसास्वाद' है। इन चार विघ्नों से रहित चित्त जब, हवा के झोंके से रहित स्थान में रक्खे हुए दीपक की भाँति, निश्चल होकर अखण्ड चैतन्य मात्र के रूप में स्थित होता है, तब निर्विकल्पक समाधि कही जाती है। ऐसा ही कहा भी गया है—

अन्वयः—लये, चित्तम्, सम्बोधयेत्; विक्षिप्तम्, (चित्तम्), पुनः, शमयेत्; सकषायम्, (चित्तम्), विजानीयात्; शमप्राप्तम्, (चित्तम्), न, चालयेत्; तत्र, रसम्, न, आस्वादयेत्, प्रज्ञया, (तस्मात्), निःसंगः, भवेत् ॥

यथा, निवातस्थः, दीपः, न, इंगते, सा, उपमा, (योगिनः, समाहितचित्तस्य), स्मृता ॥

शब्दार्थः—लये=लयकी अवस्था में, चित्तम्=चित्त को, सम्बोधयेत्=जगाना चाहिये, विक्षिप्तम्=ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में लगे हुए, (चित्तम्=चित्त को), पुनः=बार-बार, शमयेत्=शांत करना चाहिये; सक-

षायम्=कषाय से युक्त (अर्थात् रागादि वासना से स्तब्ध), (चित्तम्=चित्तको), विजानीयात्=विशेषरूप से समझना चाहिए; शमप्राप्तम्=शांत हुए. (चित्तम्=चित्त को), न=नहीं, चालयेत्=चलायमान करना चाहिए, तत्र=उस समय, रसम्=रस, (सविकल्पक समाधि के आनन्द) को, न=नहीं, आश्वादयेत्=आस्वादन करे, प्रज्ञया=बुद्धिपूर्वक, (तस्मात्=उससे), निःसङ्गः=अनासक्त, भवेत्=होना चाहिए ॥

यथा=जिस प्रकार, निवातस्थः=वायुरहित प्रदेश में रक्खा हुआ, दीपः=दीपक, न=नहीं, इंगते=कांपता है, सा=वही, उपमा=उपमा, (योगिनः=योगी के, समाहितचित्तस्य=समाधि में लगे चित्त की), स्मृता=कही गयी है ॥

अर्थः—लयकी अवस्था में चित्त को जगाना चाहिए, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं में लगे हुए चित्त को बार-बार शान्त करना चाहिये, कषाय से युक्त (अर्थात् रागादि वासना से स्तब्ध चित्त) को विशेष रूप से समझना चाहिए, शांत हुए (चित्त) को नहीं चलायमान करना चाहिये, उस समय रस (सविकल्पक समाधि के आनन्द) का आस्वादन न करे, बुद्धिपूर्वक (उस आनन्द से) अनासक्त होना चाहिए ॥ (माण्डूक्यकारिका ३।४४-४५) ॥

जिस प्रकार वायु रहित प्रदेश में रक्खा हुआ दीपक नहीं काँपता है, वही उपमा (योगी के समाधि में लगे चित्त की) कही गई है ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता ६।१९) ॥

टिप्पणी—कषायः—यद्यपि इस अवस्था में पहुँचे हुए योगाभ्यासी की रागद्वेष आदि की भावना विनष्ट हो चुकी रहती है, फिर भी अतीत के संस्कार के कारण इनका मन में, चोरों की भाँति, आवागमन लगा ही रहता है।

प्रज्ञया भवेत्—निर्विकल्पक समाधि के अभ्यासी योगी का चित्त सविकल्पक समाधि के आनन्द की ओर मुड़-मुड़ कर जाना चाहता है। किन्तु अभ्यास करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह बुद्धिपूर्वक सविकल्पक समाधि के आनन्द से असंपृक्त ही रहे।

आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर अविद्या तथा अविद्या का कार्यरूप समस्त संसार समाप्त हो जाता है। संयोग से यदि योगी का शरीर-पात उसी समय हो जाय तब तो वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। किन्तु यदि प्रारब्ध कर्म के कारण

उसका शरीरपात उस समय नहीं होता है तो वह उस (प्रारब्ध कर्म) के क्षय-पर्यन्त शरीर धारण किए रहता है। ऐसी अवस्था में वह संसारबन्धन से मुक्त ही रहता है। ऐसे ही जीवन्मुक्त का लक्षण आगे बतला रहे हैं—

अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मज्ञानेन तदज्ञानबाधनद्वारा स्वस्वरूपाखण्डब्रह्मणि साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्यसञ्चितकर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'॥ इत्यादिश्रुतेः ॥६५॥

अर्थ।—अब जीवन्मुक्त का लक्षण बतलाया जा रहा है। जीवन्मुक्त वह है, जो अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म को जान लेने से, ब्रह्मविषयक अज्ञान के बाधित हो जाने से, अपने स्वरूपभूत अखण्ड ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर, अज्ञान और अज्ञान के कार्य (सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपञ्च), सञ्चित कर्म, संशय, विपर्यय (विपरीत ज्ञान) आदि के भी बाधित हो जाने से (वीर्य-विहीन हो जाने से), सम्पूर्ण बन्धनों से रहित ब्रह्मनिष्ठ है॥

अन्वयः—तस्मिन्, परावरे, (ब्रह्मणि), दृष्टे, अस्य, हृदयग्रन्थिः, भिद्यते; सर्वसंशयाः, छिद्यन्ते; च, कर्माणि, क्षीयन्ते॥

शब्दार्थः—तस्मिन्=उस, परावरे=कारण-कार्यरूप, (ब्रह्मणि=ब्रह्म के), दृष्टे=देख लिए जाने पर, अस्य=इस (जीवन्मुक्त) के, हृदयग्रन्थिः=हृदय की गाँठ, भिद्यते=खुल जाती है, सर्वसंशयाः=सारे सन्देह, छिद्यन्ते=कट जाते हैं; च=और, कर्माणि=(प्रारब्ध को छोड़ कर) सभी कर्म, क्षीयन्ते=विनष्ट हो जाते हैं॥

अर्थः—उस कार्य-कारणरूप (ब्रह्म के) देख लिए जाने पर इस (जीवन्मुक्त) के हृदय की (अहङ्कार रूप) गाँठ खुल जाती है, सारे सन्देह कट जाते हैं, और (प्रारब्ध कर्म को छोड़ कर, सञ्चित एवं क्रियमाण रूप) सभी कर्म विनष्ट हो जाते हैं॥ (मुण्डक० २।२।८)। इत्यादि श्रुतियों का (भी जीवन्मुक्त के विषय में ऐसा ही अभिमत है)॥

अथ जीवन्मुक्तं लक्षयति—अथेत्यादिना। अखिलबन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्त इति तस्य लक्षणं परित्यक्तबन्धन इत्यर्थः। ब्रह्मनिष्ठः—ब्रह्मणि निष्ठा तदेकपरता यस्य सः ब्रह्मनिष्ठो जीवन्मुक्त इत्यर्थः॥

टिप्पणी—सञ्चितकर्म—कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) सञ्चित, (२) प्रारब्ध और (३) क्रियमाण। इनमें सञ्चित कर्म वे हैं जिन्हें पिछले जन्मों में किया गया है, किन्तु जिनका भोग अभी प्रारम्भ न होकर आगे प्रारम्भ होनेवाला है। प्रारब्ध कर्म वे पूर्वजन्म के कर्म हैं, जो फलोन्मुख हैं और जिनके कारण वर्तमान जन्म लेना पड़ा है। क्रियमाण कर्म वे हैं, जिन्हें इस जन्म में व्यक्ति करता है। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर तो सञ्चित एवं क्रियमाण कर्म विनष्ट (अर्थात् अनुर्वर) हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध को तो भोगना ही पड़ता है, उसका बिना भोगे विनाश नहीं हाता है ॥

जीवन्मुक्त अपनी इस अवस्था में भी पूर्ववत् कर्म करता ही है। अतः वह तो बद्ध ही कहा जायगा, न कि मुक्त। इसी शंका के उत्तर में आगे के अंश की अवतारणा है—

अयं तु व्युत्थानसमये मांसशोणितमूत्रपुरीषादिभाजनेन शरीरेण, आन्ध्यमान्द्यापटुत्वादिभाजनेनेन्द्रियग्रामेण, अशनायापिपासाशोक-मोहादिकभाजनेनान्तःकरणेन च पूर्वपूर्ववासनया क्रियमाणानि कर्माणि भुज्यमानानि ज्ञानाविरुद्धारब्धफलानि च पश्यन्नपि बाधितत्वात्पर-मार्थतो न पश्यति। यथेन्द्रजालमिदमिति ज्ञानवांस्तदिन्द्रजालं पश्य-न्नपि परमार्थमिदमिति न पश्यति। 'सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव' इत्यादिश्रुतेः। उक्तं च —

'सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः'॥
॥ इति ६६ ॥

अर्थः—यह जीवन्मुक्त समाधि से उठने पर, मांस रक्त मूत्र एवं विष्ठा आदि के पात्र शरीर के द्वारा, अन्धापन मन्दता अपटुता आदि के पात्र इन्द्रियसमूह के द्वारा, भूख प्यास शोक मोह आदि के भाजन अन्तःकरण से, पूर्व-पूर्व वासना के कारण किए जाते हुए (क्रियमाण) कर्मों को तथा भोगे जाते हुए प्रारब्ध (कर्म) के ज्ञानानुकूल फलों को (साक्षिभाव से) देखता हुआ भी (अज्ञान के) बाधित हो जाने से वस्तुतः नहीं देखता है। जैसे 'यह इन्द्रजाल है' ऐसा समझने वाला व्यक्ति उस इन्द्रजाल को देखता हुआ भी, 'यह यथार्थ है; ऐसा नहीं मानता है। "आंखरहित होने पर भी आंखवाले के समान और कानरहित होने पर कान वाले के समान (व्यवहार करता है)" इत्यादि श्रुति से भी (यह बात प्रमा-णित होती है)। (उपदेशसाहस्री में) कहा भी गया है—

अन्वयः—यः, जाग्रति, द्वयम्, पश्यन्, अपि, अद्वयत्वतः, सुषुप्तवत्, न, पश्यति, तथा च, कुर्वन्, अपि, यः, निष्क्रियः, सः, आत्मवित्, अन्यः न, इति, इह, निश्चयः ।।

शब्दार्थः—यः=जो, जाग्रति=जागरण के काल में, द्वयम्=द्वैत को, पश्यन्=देखता हुआ, अपि=भी, अद्वयत्वतः=अद्वैत बुद्धि के कारण, सुषुप्तवत्=सोए हुए व्यक्ति के समान, न=नहीं, पश्यति=देखता है; तथा च=और, कुर्वन्=कर्म करते हुए, अपि=भी, यः=जो, निष्क्रियः=निष्क्रिय (रहता) है, सः=वह, आत्मवित्=आत्मवेत्ता है, अन्यः=दूसरा, न=नहीं, इति=यह, इह=वेदान्त में, निश्चयः=निश्चय है ।।

अर्थः—"जो जागरण के काल में द्वैत को देखता हुआ भी, अद्वैत बुद्धि के कारण, सोए हुए व्यक्ति के समान (वस्तुतः उसे) नहीं देखता है, और कर्म करते हुए भी जो निष्क्रिय (रहता) है, वह आत्मवेत्ता है, दूसरा नहीं, यह वेदान्त का निश्चय है ।।"(उपदेशसाहस्री १०।१३) ।।

टिप्पणी—अयं तु व्युत्थानसमये······परमार्थतो न पश्यति—यह वाक्य जीवन्मुक्त तथा बद्ध (अर्थात् संसारी व्यक्ति) के बीच अन्तर प्रदर्शित करने के लिए है। जीवन्मुक्त के शरीर एवं इन्द्रिय आदि तथा बद्ध व्यक्ति के शरीर तथा इन्द्रिय आदि एक जैसे होते हैं। किन्तु जीवन्मुक्त शरीर धारण करते हुए भी उससे तथा उसके द्वारा सम्पादित हो रहे कर्मों के प्रति निर्लिप्त रहता है। जब कि बद्ध व्यक्ति अपने शरीर तथा उससे किए जा रहे कर्मों के प्रति आसक्त बना रहता है।

अशनायापिपासा—भूख एवं प्यास को पहले प्राणों का कार्य बतला चुके हैं। किन्तु यहाँ इन्हें अन्तःकरण का कार्य बतलाया गया है इसे सांख्य का प्रभाव समझा जा सकता है। मिलाइये सांख्यकारिका—२९ ।।

अब जीवन्मुक्त के कुछ बाह्य लक्षणों को बतला रहे हैं, जिनसे अन्य लोग भी उसे जीवन्मुक्त समझ सकें—

अस्य ज्ञानात्पूर्वं विद्यमानानामेवाहारविहारादीनामनुवृत्तिवच्छुभवासनानामेवानुवृत्तिर्भवति शुभाशुभयोरौदासीन्यं वा तदुक्तम्—

बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे' ।। इति ।।

आधाय्यम्

ब्रह्मवित्त्वं तथा मुक्त्वा स आत्मज्ञो न चेतरः ॥ इति च ॥

तदानीममानित्वादीनि ज्ञानसाधनान्यद्वेष्टृत्वादयः सद्गुणाश्चालङ्कारवदनुवर्तन्ते । तदुक्तम्—

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः ।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः ॥ इति ॥ ६७ ॥

अर्थः—इस जीवन्मुक्त के ज्ञान से पूर्व होने वाले (अतः चिर अभ्यस्त) आहार-विहार की ही तरह, शुभ संस्कारों (वासनाओं) की ही अनुवृत्ति होती है । अथवा (वह) शुभ एवं अशुभ दोनों ही तरह की वासनाओं से उदासीन हो जाता है । कहा भी गया है—

अन्वयः—"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य, यदि यथेष्टाचरणम्, (भवेत्, तदा) शुनाम्, च, तत्वदृशाम्, एव, अशुचिभक्षणे, कः, भेदः ॥

"ब्रह्मवित्त्वम्, तथा, मुक्त्वा, सः, आत्मज्ञः (भवति); इतरः, न ॥

शब्दार्थः—"बुद्धाद्वैतसतत्त्वस्य=जिसने अद्वैत तत्व को यथार्थरूप से जान लिया है ऐसे व्यक्ति का, यदि=यदि, यथेष्टाचरणम्=स्वेच्छा से आचरण, (भवेत्=हो, तदा=तब), शुनाम्=कुत्तों, च=तथा, तत्त्वदृशाम्=तत्वज्ञों के बीच, एव=भी, अशुचिभक्षणे=अपवित्र पदार्थों के खाने में, कः=क्या, भेदः=अन्तर होगा ॥"

"ब्रह्मवित्त्वम्="मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ" इस अभिमान को, तथा=उस तरह से, मुक्त्वा=छोड़कर, सः=वह, आत्मज्ञः=आत्मज्ञानी, (भवति=होता है), इतरः=दूसरा कोई, न=नहीं ।"

अर्थः—"जिसने अद्वैत तत्त्व को यथार्थ रूप से जान लिया है, ऐसे व्यक्ति का यदि स्वेच्छा से आचरण हो, तब कुत्तों और तत्वज्ञों के बीच अपवित्र पदार्थों के खाने में क्या अन्तर होगा ? (अर्थात् कुछ नहीं) ॥" (नैष्कर्म्यसिद्धि ४।६२)॥

"मैं ब्रह्म ज्ञानी हूँ" इस अभिमान को उस तरह से छोड़कर वह आत्म-ज्ञानी (होता है) दूसरा कोई नहीं ॥" (उपदेशसाहस्री १२।१३) ॥

उस समय (अर्थात् जीवन्मुक्ति की अवस्था में) ज्ञान के साधन निरभिमानिता आदि और किसी से द्वेष न करना आदि सद्गुण (इस जीवन्मुक्त का)

अलंकार की भाँति अनुवर्तन करते हैं (अर्थात् विना प्रयास के ही उसका अनुवर्तन कर उसके अलंकार की भांति प्रतीत होते हैं) । यही कहा गया है—

अन्वयः—उत्पन्नात्माववोधस्य, अस्य हि, अद्वेष्टृत्वादयः, गुणाः, अयत्नतः, भवन्ति, न तु, साधनरूपिणः, (भवन्ति)

शब्दार्थः—उत्पन्नात्मावबोधस्य=आत्मज्ञान हुये, अस्य=इस (जीवन्मुक्त) के, अद्वेष्टृत्वादयः=द्रोह न करना आदि, गुणाः=गुण, अयत्नतः=विना प्रयास के ही, भवन्ति=होते हैं, न तु=न कि, साधनरूपिणः=साधनरूप, (भवन्ति= होते हैं) ॥

अर्थः—आत्मज्ञान हुए इस (जीवन्मुक्त) में द्रोह न करना आदि गुण विना प्रयास के ही होते हैं (आ जाते हैं); न कि साधनरूप (होते) हैं ॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि ४।६९)

टिप्पणी—ब्रह्मवित्वं···न चेतरः "मैं ब्रह्मवेत्ता हूँ" ऐसा अभिमान जब तक रहता है, तब तक यही समझना चाहिए कि योग-साधक अभी मुक्त नहीं हुआ है। आखिर अभिमान भी तो अज्ञान का ही कार्य है और वह जब तक साधक को वश में किये है, तब तक साधक भला जीवन्मुक्त कैसे माना जा सकता है ?।

अलङ्कारवदनुवर्तन्ते– किसी से द्वेष न करना, सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करना आदि गुण जीवन्मुक्त के स्वभावसिद्ध गुणों की भाँति ही होते हैं। इनके अर्जन के लिये जीवन्मुक्त को प्रयास नहीं करना पड़ता है।

जीवन्मुक्त प्रारब्ध की समाप्ति पर देह-पात के अनन्तर विदेहमुक्त या परम-मुक्त हो जाता है। इसी का आगे निरूपण करने जा रहे हैं—

किं बहुनाऽयं देहयात्रामात्रार्थमिच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि सुख-दुःखलक्षणान्यारब्धफलान्यनुभवन्नन्तःकरणाभासादीनामवभासकः संस्तदवसाने प्रत्यगानन्दपरब्रह्मणि प्राणे लीने सत्यज्ञानतत्कार्यसंस्काराणामपि विनाशात् परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभास-रहितमखण्डं ब्रह्मावतिष्ठते। 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'अत्रैव समवलीयन्ते', विमुक्तश्च विमुच्यत' इत्यादिश्रुतेः ॥ ६८ ॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यसदानन्द-
विरचितो वेदान्तसारः समाप्तः ॥

अर्थः—अधिक कहने से क्या लाभ ? यह जीवन्मुक्त एकमात्र शरीर को चलाने भर के लिये इच्छा अनिच्छा और दूसरे की इच्छा से प्राप्त कराये गये,

सुख-दुःखरूप प्रारब्ध (कर्म) के फलों का (निर्लेपभाव से) अनुभव करता हुआ एवं अन्तःकरण की विषयाकार वृत्तियों को (साक्षिरूप से) प्रकाशित करता हुआ, प्रारब्ध कर्म के समाप्त हो जाने पर, प्राण के प्रत्यगानन्दरूप ब्रह्म में लीन हो जाने पर, अज्ञान और उसके कार्यों (समस्त प्रपञ्च) एवं संस्कारों के भी विनष्ट हो जाने से परमकैवल्यरूप, आनन्दैकरस, सम्पूर्ण भेद की प्रतीतियों से रहित, अखण्ड ब्रह्ममात्र रह जाता है (हो जाता है)। "उस (ब्रह्मज्ञानी) के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं (अर्थात् निकल कर कहीं अन्यत्र नहीं जाते हैं)" (बृहदा० ४।४।६); "वे इस परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं।" (बृहदा० ३।२।११); और (अविद्या के बन्धन से) मुक्त हुआ यह जीवन्मुक्त विमुक्त (अर्थात् विदेह मुक्त) हो जाता है। (कठ० २।२।१) इत्यादि श्रुतिओं से (भी यही बात कही गई है) ॥ ६८ ॥

॥ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य सदानन्द के द्वारा विरचित
यह वेदान्तसार समाप्त हुआ ॥

टिप्पणी—इच्छानिच्छापरेच्छाप्रापितानि–प्रारब्ध भोग तीन प्रकार का होता है। यह कभी स्वेच्छा से प्राप्त होता है; जैसे ऋतुकाल में स्त्रीगमन। कभी अनिच्छा से प्राप्त होता है, जैसे राह चलते रुपयों की थैली का मिल जाना, स्नान के समय गंगा में डूब जाना आदि। कभी परेच्छा से प्राप्त होता है; जैसे चोर डाकुओं का आक्रमण आदि।

॥ रमाशङ्कर त्रिपाठी के द्वारा रचित वेदान्तसार की यह 'कौमुदी' नामक व्याख्या समाप्त हुई ॥

—:*:—

विदेहमुक्तिमुपस्थापयन्नुपसंहरति—किं बहुनेति। देहयात्रामात्रार्थम्=केवलं शरीरचालनार्थं न त्विन्द्रियप्रीत्यर्थमित्यर्थः. अन्तःकरणाभासादीनाम्=अन्तःकरणस्य विषयाकारवृत्त्यादीनां बुद्धिसाक्षितया अवभासकः सन्=प्रकाशकः सन्, तदवसाने=प्रारब्धकर्मणोऽवसाने। विमुक्तश्च विमुच्यते=अथ जीवन्मुक्तो जीवन्नेव दृश्यमानाद् रागद्वेषादिबहुलात्प्रपञ्चाद् विशेषेण मुक्तः सन् वर्तमानस्य शरीरस्य पाते जाते भाविशरीरबन्धनाद्विशेषेण मुच्यते इति भावः ॥

॥ इति रमाशङ्करत्रिपाठिकृता वेदान्तसारटीका 'कौमुदी' समाप्ता ॥

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान